

# अंतिम ज्ञान

वर्ष-4, अंक 4, संख्या 39, अप्रैल 2015

## प्रधान सम्पादक

दीपंकर श्री ज्ञान  
निदेशक, गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति

## मानद सम्पादक

डॉ. राजीव रंजन गिरि

## सम्पादकीय सहयोग

पंकज चौबे  
रीता कुमारी

## अक्षर संयोजन

शुभांगी गिरधर

## आवरण

सीताराम

## रेखांकन

संजीव शाश्वती, सीताराम,  
धर्मेन्द्र सुशांत

मूल्य : ₹ 10

वार्षिक सदस्यता : ₹ 100

दो साल : ₹ 200

पाँच साल : ₹ 400



## गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति

गांधी दर्शन, राजघाट, नई दिल्ली-110 002  
फोन : 011-23392710 फैक्स : 011-23392706  
ई-मेल : antimjangsds@gmail.com  
2010gsds@gmail.com

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति, राजघाट, नई दिल्ली-110002, की ओर से दीपंकर श्री ज्ञान द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेखकों द्वारा उनकी रचनाओं में प्रस्तुत विचार एवं दृष्टिकोण उनके अपने हैं, गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति, राजघाट, नई दिल्ली के नहीं। समस्त मामले दिल्ली न्यायालय में ही विचाराधीन।

मुद्रक

दीप कलर स्कैन प्रा. लि., दिल्ली-110095



## इस अंक में . . .

सम्पादकीय	2
आपके खत	3
धरोहर	
धर्म और हम – मो. क. गांधी	7
विमर्श	
विवेकपूर्वक कदम बढ़ाते जायें – नारायण देसाई	11
जीवन ही शिक्षा है – डॉ. अभय बंग	15
विशेष	
स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय : आम्बेडकर-गांधी विमर्श – राजमोहन गांधी	19
साहित्य	
कबीर – एवेलिन अण्डरहिल	37
चिन्ता	
बच्चों के प्रति एक हिंसा – डॉ. परमानन्द पांचाल	46
स्त्री विमर्श	
हमारे गाँव, कस्बे और प्रेमपत्र – क्षमा शर्मा	48
कविता	
मृत्युंजय प्रभाकर की कविताएँ	51
पूजा खिल्लन की कविताएँ	54
बचपन	
चित्रकारी – अस्मिता शर्मा	55
कुंदन की वापसी – डॉ. सुनील कुमार 'सुमन'	56
समीक्षा	
मलयालम में गांधी – प्रतिभा कुशवाहा	58
जहाँ जहाँ चरण पड़े	
विलायत में मोहनदास – पंकज चौबे	60
प्रसंगवश	
अधूरे भाषण की याद में – VII – डॉ. राजीव रंजन गिरि	62



## मानवता की कौम

देशकाल में व्याप्त कुरीतियों पर सन्त कबीर के दोहे के माध्यम से किये गये व्यंग्य सर्वकालिक प्रासंगिक हैं। इन व्यंग्यों का उद्देश्य समाज में व्याप्त जाति-वर्ण-सम्प्रदाय के भेदभाव को मिटाना था तभी तो कबीर रचित इन दोहों ने कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अंग्रेजी में इनका अनुवाद करने हेतु प्रेरित किया। इस अनुवाद का मूल उद्देश्य सन्त कबीर के भाव को ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुँचाना था। रहस्यवाद की चर्चित कवियत्री एवेलिन अण्डरहिल ने इस अनुवाद की भूमिका लिखते वक्त सन्त कबीर की मृत्यु से जुड़ी प्रसिद्ध किवदन्ती का भी उल्लेख किया है कि जब सन्त की मृत्यु होती है तो दो सम्प्रदायों के उनके अनुयायी शव के स्वामित्व को लेकर विवाद करते हैं। तब कबीर स्वयं प्रकट होकर दोनों मजहबों के अनुयायियों को अपना शरीर फूल के रूप में सौंपते हैं जिसका वे अपने-अपने मजहब की रीतियों के अनुसार ससम्मान अन्तिम संस्कार करते हैं। हिंसाग्रस्त एवं उन्मादी समाज को आज भी सन्त कबीर के आदर्शों की शायद उनके समय से ज्यादा जरूरत है। मुझे वर्षों पूर्व स्वलिखित कविता इस अवसर पर बरबस याद आती है।

मस्जिद-मन्दिर में वैर नहीं है  
 इसकी ईंटें गैर नहीं हैं  
 एक मिट्टी से बने हुए  
 एक राख में सने हुए  
 मन्दिर-मस्जिद में लगकर  
 मन्दिर-मस्जिद के कहलाते हैं  
 मानवता की कौम में जन्मे  
 हम हिन्दू-मुस्लिम हो जाते हैं।

‘अंतिम जन’ के सुधि पाठकों के लिए हम अण्डरहिल के सुन्दर आलेख का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर रहे हैं।

इस अंक में श्री राजमोहन गांधीजी का एक लेख भी प्रकाशित कर रहे हैं जो समाज की विषमता पर गांधीजी की सोच को उजागर करता है।

सर्वोदय आन्दोलन के पुरोधा श्री नारायण देसाई जो गांधीजी के सचिव स्व. महादेव भाई देसाई के पुत्र थे, का लेख भी हम इस अंक में प्रकाशित कर रहे हैं जिसमें उन्होंने लिखा है कि “विवेक केवल सत् एवं असत् के बीच पसन्द करने की चीज नहीं है। यह तो मामूली आदमी भी कर सकता है कि अच्छा लो बुरा छोड़ो। विवेक की बात तो तब आती है जो अच्छा दिखता है उसमें से कोई नया निष्कर्ष निकाले। तभी सही विवेक होगा। आज देश की वर्तमान परिस्थिति को हमें विवेक से देखना होगा।”

इस अंक के अन्य आलेख भी अवश्य आपका ध्यान आकर्षित करेंगे ऐसी आशा है।

आपकी प्रतिक्रियाओं का हम इन्तजार रहेगा।

दीपंकर श्री ज्ञान

दीपंकर श्री ज्ञान

# आपके खत

## बेहतर पत्रिका

आपकी पत्रिका गांधीजी के विचारों की वाहक है, लेकिन इसको पढ़ते हुए लगता है कि इसमें सम-सामयिक राष्ट्रीय और वैश्विक प्रश्नों पर विचार-विमर्श किया जा रहा है। दिसम्बर 2014 अंक में गांधी का 'स्वदेशी पर विचार' आँखें खोलने वाला लेख है। हमारे यहाँ कहावत चलती है— दूर के ढोल सुहावन। इसी तरह बाहरी चीजों के लालच में हमने अपनी चीजों को भुला दिया है। यह एक बड़ा संकट है। इसी अंक में पर्यावरणविद अनुपम मिश्र का लेख 'पातालकोट की गहराई' समाचार लिखने वालों की नैतिक-सामाजिक जिम्मेदारी को स्पष्ट करता है। आज सूचना-संचार के युग में खबरों को सनसनी बनाने का चलन काफी बढ़ गया है। ऐसे में यह लेख मार्गदर्शक का काम करता है। आपने चित्रकार जैनुल आबदीन पर धर्मेन्द्र सुशांत का लेख दिया है, जिससे इस महान विभूति के बारे में पहली बार जाना। ऐसे लोगों पर आगे भी सामग्री देंगे, ऐसी अपेक्षा है।

जितेंद्र वर्मा  
सीवान, बिहार

## भेदभाव रहित समाज

'अंतिम जन' का दिसम्बर अंक मेरे हाथ में है। इस अंक का आवरण पृष्ठ बहुत आकर्षक लग रहा है। अंदर सभी आलेख, कविता, कहानी भी पढ़ने योग्य हैं। महात्मा गांधी का स्वदेशी पर विचार अत्यन्त लाभदायक है। गांधीजी मानते हैं कि स्वदेशी से ही राष्ट्र का कल्याण हो सकता है। स्वदेशी सिर्फ आर्थिक पहलू नहीं है। यह सिर्फ विचार नहीं है बल्कि यह देश प्रेम की भावना है। न्या. चन्द्रशेखर धर्माधिकारी जी का सफाई को लेकर चिन्तन प्रासंगिक है। आज हमारे देश में 'स्वच्छ भारत' का अभियान चल रहा है। देश, समाज को स्वच्छ रखना अच्छी बात है। लेकिन दादा धर्माधिकारी स्वच्छता को साफ-सफाई से आगे लेकर जाते हैं और कहते हैं— स्वच्छ भारत में विश्वास रखने वालों को अपने वैयक्तिक जीवन में सर्वप्रथम अपनाना होगा कि वे जातिभेद या वर्गभेद पर आधारित विषमता को अपने निजी जीवन में स्थान नहीं देंगे। जात-पाँत पर आधारित कोई भी क्रिया-कर्म, निजी व्यवहार में नहीं पालेंगे।

समाज को बदलने के लिए स्वच्छता अभियान में जाति-वर्ग विशेष को छोड़ने की भावना का समावेश कर इस कार्य को बहुत आगे तक ले जाया जा सकता है। इससे हमारे देश में गैर बराबरी समाप्त हो सकती है। मानव-मानव में भेद मिट जाएगा। यह देश सुन्दर बन सकेगा।

धर्मपाल सिंह  
बागपत, उत्तर प्रदेश

## निरन्तर प्रयास

मैं 'अंतिम जन' पत्रिका का नियमित पाठक रहा हूँ। पत्रिका आज के हिंसक वातावरण को, भयमुक्त बनाने का काम कर रही है। समाज में चारों तरफ अराजकता का माहौल है। लोगों का शासन से विश्वास उठ रहा है। देश का रक्षक ही भक्षक बनता जा रहा है। अविश्वास का ऐसा माहौल तैयार हो गया है जिसको काबू करना मुश्किल हो रहा है। इस तरह के माहौल में हम सभी गांधी बाबा के दिखाये रास्ते पर चलकर ही इससे बच सकते हैं। मुझे पूरा विश्वास है, इस पत्रिका को पढ़ने के बाद लोगों के अंदर जो विकार उत्पन्न हो रहा है, उससे मुक्ति जरूर मिलेगी। चाहे-अनचाहे इस पत्रिका का प्रभाव पढ़ने पर अवश्य ही पड़ता है। यह पत्रिका ज्यादा से ज्यादा लोगों को पढ़ना चाहिए। इसके लिए प्रत्येक पाठक को भी, और गांधी स्मृति को भी निरन्तर प्रयास करना चाहिए।

सुषमा  
ब्रह्मपुरी, दिल्ली

## मानवीय चेतना

प्रतीक्षा के पश्चात 'अंतिम जन' हस्तगत हुआ। आत्यान्तिक हर्षानुभूति हुई। आपके कुशल सम्पादन में वर्तमान समय में श्रेष्ठ पत्रिका का प्रकाशन होना, गर्व का विषय है। पत्रिका का समग्र कलेवर विविध आयामों को केन्द्र में रखकर बहु उपयोगी बनाया गया— एतदर्थ साधुवाद! कालजयी कहानी 'पूस की रात' प्रेमचन्द की मानवीय चेतना, संवेदना और यथार्थ की जीवन्तता है। कृषक समाज आज भी वैज्ञानिक प्रगति के पश्चात आत्महत्या करने को शापित है। कृषि लाभ का सौदा बनें—यह स्वप्न मूर्तरूप नहीं ले पाया। 'नाराज होती गंगा' अभय मिश्रा का आलेख चिन्तन को जमीन देता है। मनुष्य की

प्रपंच लीला ने उस परम पावन गंगा को प्रदूषित कर आत्मघाती कदम उठाया है— फिर भी हमारा विश्वास आशावाद पर। 'अंतिम जन' जन गण मन की कंठहार बनें— यही कामना है।

जवाहरलाल द्विवेदी  
गुना, म.प्र.

## अंतिम आदमी

'अंतिम जन' का नियमित रूप से पाठक हूँ। अभी अप्रैल अंक पढ़ा। आपका सम्पादकीय बहुत प्रभावशाली एवं आज के संदर्भों में प्रासंगिक है। मधु लिमये का लेख; अपनी जमीन से जुड़ा हुआ है और इसका विश्लेषण करता है। 'अंतिम जन' वास्तव में अंतिम नागरिक की वकालत करता है।

विवेक सत्यांशु  
शिवनगर कालोनी, अल्लापुर, इलाहाबाद

## अच्छी पत्रिका

मई माह का 'अंतिम जन' पढ़ा, बड़ा मन भाया। गांधीजी के विचारों को हम तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण श्रेय समिति को जाता है। जो प्रशंसनीय है। अभय मिश्रा द्वारा लिखित 'नाराज होती मैया' अच्छा लगा। विशेषकर मो.क. गांधी का गांधी वांगमय में संकलित 8 फरवरी 1920 में लिखा गया लेख 'सत्य ही शक्ति है', वास्तविकता को छूने वाला था, जो नवजीवन पत्रिका में प्रकाशित हुआ। न्या. चंद्रशेखर धर्माधिकारी द्वारा दशा-दिशा के अंतर्गत 'क्या गांधी संस्थायें, समाधीयाँ और कब्रिस्तान बन रही हैं?' वास्तव में चिन्तनीय विषय रहा। सचमुच गांधीवादियों में पारस्परिकता और स्नेह वृत्ति का अभाव है। इसके अलावा सुरेश शर्मा जी की हिन्द स्वराज्य का अर्थलोक तथा कवि गुलजार हुसेन की कवितायें और 'रस्सी से फांसी के फंदे ही नहीं बनते', 'दूर जाती चिड़ियाँ मनभावन लगी'।

आचार्य दत्तात्रेय आर्य स्नेही  
संस्थापक सचिव, उत्तर कर्नाटक  
हिन्दी सेवा समिति, हुमनाबाद

## शोध में सहायक

'अंतिम जन' पत्रिका मैंने पुस्तकालय में पढ़ी, मुझे बहुत अच्छी लगी और विश्वास है कि आपकी यह पत्रिका मेरे शोध-कार्य के लिए सहायक होगी।

आशीष यादव, शोधार्थी  
बदायूँ, सम्भल, उ.प्र.

## मेरी आवाज सुनो

यह आवाज़ सुनें सब राष्ट्र पुकार हमारा,  
दुःखी-दलित जनजाति न बने यहाँ बेसहारा,  
झुग्गी-झोपड़ी पुकारती आँसु भरी आँखों से सहारा,  
कहाँ चूके नीति में देश में बढ़ते रहें सर्वहारा।

धर्म-संस्कार-संस्कृति प्यारा सारा देश हमारा न्यारा,  
विश्व गुण गान करने वाला प्यारा देश हमारा,  
क्या मिला इस देश से न बोले कभी दोबारा,  
क्या दिया हमने मातृ-भूमि को सोचे लोग सारा।  
सुबह सबेरे पंख-पखेरु तेरी ही गुण गाये,  
वास भरी भरपूर हवाएँ जीवन में ऋतु लाये,  
सब मिलकर हिन्द पुकारें भारत के स्वर सुनायें,  
प्यारा देश हमारा सूरज बनकर विश्व ज्योति फैलाए।

भाषा भेष संस्कृति से सजायें यह बगीचा सारा,  
खेत बगीचे हरियाली बने खलिहान सुनहरा,  
हम सबके हृदय बोले यही महान देश हमारा,  
सुख में सुखी देश की दुःख में बहे अश्रुधारा।  
हिन्दू मुस्लिम सिख ईसाई भाई-भाई हमारा,  
पूछे प्रश्न अपने को यहाँ हमने क्या सँवारा,  
उठो जागो बढ़े आगे ध्येय बने सब हमारा,  
बने हम सबके अपना-अपना सबका प्यारा-प्यारा।  
रुलाये नहीं कोई भारत जननी को बनाये न बेसहारा,  
क्या दिया मैंने तुमको बने राष्ट्र प्रश्न हमारा?  
गोला बारुद से लोग निशाना न हो खून-खराबा,  
जिम्मेदार है हम कितने राष्ट्र व्यक्तित्व बनाये रखने का।

मेरा भारत महान है मैं अपना जीवन देखें,  
देश को बनाना और भी है सपना अपना लिखें,  
भावनाओं से देश बने हमारा सीखे चींटी से ज्ञान,  
बढ़ाए अपनी-अपनी मान बढ़े देश की सम्मान।  
उत्तर-दक्षिण-पूरब-पश्चिम चारों किला हमारा,  
सीने में देश हमारा बोलना सीखे शिशु सारा,  
देश गया घर सँवारा गिरा नैतिकता हमारा,  
स्वाधीन भारतवासी को घर शकुनी ने क्यों लतारा?

डॉ. हर्क बहादुर छेत्री  
भारत भाषा संस्थान, मानसंगोत्री,  
मैसूर

## दया-धर्म

‘अंतिम जन’ पत्रिका का विलम्ब से लेकिन अच्छा अंक पढ़ने का अवसर मिला। फरवरी अंक में सारे आलेख अच्छे दिये हुए हैं। समय के साथ चलना इस पत्रिका की खास बात है। धरोहर के अंतर्गत ‘निर्बल के बल राम’ जो बापू का उद्बोधन है में बापू कहते हैं— जिस दिन किसान को भी अपनी मर्जी से किसान और मजदूर रहना मैं सीखा सकूँगा, उस दिन उसे ये बेड़ियाँ भी तोड़ देना सिखा सकूँगा जो उसे मालिक का हुक्म मानने को मजबूर करती हैं। गांधीजी चाहते थे प्रत्येक भारतवासी अपने पेशे से खुश रहे। उनमें देश सेवा का भाव हो। वैसे किसान और मजदूर ही हमारे देश के सबसे बड़े सेवक होते हैं। उनकी मेहनत पर ही पूरा देश निर्भर रहता है। देश को दो वक्त की रोटी तभी मिल पाती है जब किसान का खून पसीना बनकर उसके शरीर से निकलता है। दूसरी तरफ बापू कहते हैं कि अहिंसा तो अत्याचारी से प्रेम करना सिखाती है। अहिंसक मनुष्य अत्याचारी से नहीं डरता। उस पर दया करता है। दया धर्म बतलाता है कि जिससे हम डरते हैं, उस पर दया नहीं कर सकते। गांधीजी की दृष्टि अहिंसा को लेकर बिल्कुल साफ थी। वे अहिंसा को अपना प्रमुख हथियार मानते थे। एक ऐसा हथियार जिसके धारण करने भर से विरोधियों का भी मन जीता जा सकता है। न सिर्फ जीता जा सकता है बल्कि उसके मन के द्वेष-राग को भी हमेशा के लिए समाप्त किया जा सकता है।

गांधीजी के सपनों के भारत में हिंसा का कोई स्थान नहीं है। वे चाहते थे ऊँच-नीच, गरीब-अमीर का भेदभाव न रहे। सभी आपस में मिलजुल कर रहें। प्रेम और भाईचारे से। तभी हम बेहतर देश का निर्माण कर सकते हैं। इस तरह के समाज का निर्माण तो अभी तक नहीं हो पाया है परन्तु हम गांधी-विचार का प्रचार करते रहे और इसके लिए लोगों में जागरूकता फैलायें तभी समाज बेहतर बन सकेगा।

विमल द्विवेदी

हरदिया, पूर्वी चम्पारण, बिहार

## प्रचार-प्रसार की जरूरत

‘अंतिम जन’ पत्रिका से आम लोगों को अत्यधिक लाभ मिल रहा है। इस पत्रिका के सभी आलेख पठनीय होते हैं। पत्रिका का अधिक प्रचार-प्रसार करने का जरूरत है। हम इस पत्रिका से बहुत प्रभावित हैं।

संजय भाई

राष्ट्रीय अनुवरत शिक्षक संसद संस्थान  
दिल्ली

## पत्रिका में व्यापकता

पत्रिका आप बहुत अच्छी निकाल रहे हैं। खासकर इसका वैचारिक पक्ष अत्यन्त प्रासंगिक है। लोग गांधी को राष्ट्रपिता कहते तो हैं, पर उनकी बातों पर अमल करना जरूरी नहीं समझते। जनवरी 2015 अंक में गांधीजी का लेख ‘आश्रम के व्रत’ छपा है जिसमें उन्होंने सत्य और अहिंसा के साथ-साथ अस्वाद, अस्तेय, स्वदेशी, अभय, स्पर्श भावना, रचनात्मकता अर्थात् कताई-बुनाई के व्रतों की बात की है। ये सब आज आदर्श घोषित हैं, लेकिन व्यवहार में हम इनका पालन नहीं करते। ‘अंतिम जन’ हमें हमारे इस दोहरेपन से परिचित कराता है। ‘नवउदारवाद और स्त्री’ तथा ‘सर्वेश्वर की पत्रकारिता’ जैसे आलेख पत्रिका को व्यापकता प्रदान करने वाले हैं।

महेश कुमार

मुजफ्फरपुर, बिहार

## उम्दा आलेख

‘बापू की कुटिया में’ सुप्रसिद्ध साहित्यकार रामवृक्ष बेनीपुरी जी का स्मरण है। उम्दा किस्म का स्मरण है यह। जो हृदय की गहराइयों में बैठ जाता है। इसको पढ़ने के बाद मैं कई दिनों तक ‘बा’ और ‘बापू’ के विषय में सोचता रहा। एक साधारण हाड़-मांस का आदमी जिसने पूरी दुनिया को आश्चर्यचकित कर दिया। दुनिया भर के तमाम लेखकों ने गांधी के ऊपर अपनी टिप्पणी की है। सबकी अपनी-अपनी दृष्टि रही। गांधी सबको वैसे ही दिखते थे जैसी उनकी भावना रही। तुलसीदास जी कहते हैं ‘जाकि रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखे तिन तैसी।’ गांधी भगवान नहीं हो सकते। क्योंकि गांधी को जैसे हम भगवान का दर्जा देते हैं वैसे ही बहस रुक जाती है। बहस रुकना, मतलब गांधी को मार देना है। उनके विचारों की हत्या कर देना है। इसलिए जरूरी है गांधी के विचारों पर लगातार बहस चलती रहे। खैर, बेनीपुरी जी लिखते हैं— बा उम्र में बापू से बड़ी थीं या छोटी, इसका निर्णय उन दोनों के सिवाय कौन कर सकता था? किन्तु, जिस तरह छाया कभी-कभी मनुष्य से भी बड़ी हो जाती है, उसी तरह नारी-आदर्श की दृष्टि से ‘बा’ का चरित बहुत ही महान था, इसे बापू ने भी कई बार स्वीकार किया था। बेनीपुरी जी ने बापू की कुटिया का सजीव चित्रण किया है। ऐसा लगता है जैसे ‘बा’ और ‘बापू’ अब आएँगे।

कृपानिधि केशव

कोटा, राजस्थान

## वैचारिक शुद्धता

महात्मा गांधी के विचार समय के साथ प्रभावी होते जा रहे हैं। हम इनके विचारों को भले दरकिनार करें लेकिन इनको आने वाले समय में हमें अपना ही होगा। हमारे चारों तरफ डर का माहौल पैदा हो गया है। अविश्वास भी हम सब पर हावी हुआ। मनुष्य का मनुष्य पर से विश्वास उठता जा रहा है। इन सबके पीछे बहुत सारी वजहें हो सकती हैं। समाज बिखर रहा है। इसको सहेजने की जरूरत है। इसके लिए हम मदद महापुरुषों के विचारों से ले सकते हैं। महात्मा गांधी विषम परिस्थिति में हमें रास्ता दिखा रहे हैं। न सिर्फ वैचारिक शुद्धता के लिए बल्कि आचरण की शुद्धि के लिए भी मार्ग है। महात्मा गांधी जीवन भर सत्य, अहिंसा के मार्ग पर चलते रहे। उन्होंने पहले अपने जीवन में सत्य और अहिंसा को शामिल किया। तब जाकर लोग को इस राह पर चलने की प्रेरणा देते थे। गांधी स्मृति से प्रकाशित 'अंतिम जन' पत्रिका गांधीजी की गैर मौजूदगी में उनके विचारों का प्रचार-प्रसार कर रही है।

अजीत कुमार

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

## प्रेरक पत्रिका

आज के संकटग्रस्त समाज में 'अंतिम जन' पत्रिका में प्रकाशित विचार हमें अपनी समस्याओं से संघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं। पत्रिका के दिसम्बर 2014 में 'धरोहर' स्तम्भ के अन्तर्गत राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के स्वदेशी पर विचारों को पढ़कर लगा कि आज हमारा समाज अपनी जड़ों से कितना कटता चला गया है। उन्होंने राजनीति को धर्म से अलग नहीं करने की बात कही है और जोर दिया है कि धर्म की मूल भावना परोपकार है न कि कुछ और। उन्होंने विदेशी भाषा में शिक्षा का सवाल भी उठाया है। फिर आर्थिक और औद्योगिक जीवन में विदेशों पर निर्भरता पर रोशनी डाली है। ये सारे मसले आज पहले से कहीं ज्यादा प्रासंगिक हैं। पत्रिका के इस अंक में प्रकाशित न्यायमूर्ति दादा धर्माधिकारी का लेख 'सफाई में विश्वास' और प्रो. सुदर्शन आयंगर का लेख 'अहिंसा और अर्थशास्त्र' महज विचारों को व्यावहारिकता के धरातल पर संगत साबित करने वाले लेख हैं। वास्तव में पत्रिका का वैचारिक पक्ष काफी प्रबल और प्रेरक है, जिससे इसकी उपयोगिता स्वयंसिद्ध है।

अरुण कुमार

छपरा, बिहार

## गांधीजी को खोकर

'अंतिम जन' का जनवरी अंक देखा। पिछले अंकों की तरह इसमें भी आपने काफी उल्लेखनीय सामग्री दी है, जिससे सहज ही यह एक संग्रहनीय अंक बन गया है। घोर उपभोक्तावादी दौर में 'अंतिम जन' ही यह बताने का साहस करता है कि आज के विकास में ही विनाश के बीज छुपे हुए हैं। प्रस्तुत अंक में विख्यात पत्रकार प्रभाष जोशी का लेख इस विषय पर गहरी जानकारी देने वाला है। इसी तरह जाने माने अर्थशास्त्री गिरीश मिश्र ने भूमंडलीकरण की सच्चाइयों को उजागर किया है। लेकिन मुझे इस अंक की सबसे यादगार प्रस्तुति लगी, मैलविल डी मैलो का संस्मरण दिव्य प्रवाह से अनंत तक। महात्मा गांधी के महाप्रयाण का ऐसा मार्मिक विवरण रुला देने वाला है। साथ ही यह एहसास कराने वाला भी गांधी को खोकर मानवता ने अपनी कितनी बड़ी निधि खो दी।

रागिनी कुमारी

रायपुर, छत्तीसगढ़

## समयानुसार

कमल किशोर गोयनका का लेख 'हिन्द स्वराज : यह पक्ष भी जानिए' एक मुकम्मल आलेख है। वास्तव में गांधीजी के विचारों का मूलभाव है हिन्द स्वराज में निहित है। गांधीजी कहते हैं 'मैंने महसूस किया कि भारत की मुसीबतों का इलाज हिंसा नहीं और भारतीय सभ्यता को आत्मरक्षा के लिए दूसरी तरह के और ज्यादा ऊँचे किस्म के हथियार की जरूरत है। गांधी जब दक्षिण अफ्रीका में संघर्ष कर रहे थे तब उन्होंने यह निर्णय कर लिया था कि उनका संघर्ष अहिंसक होगा। हिंसा किसी भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। अहिंसा द्वारा समाज को बदला जा सकता है। स्मरण के अंतर्गत लिखित आलेख 'दिव्य प्रवाह हो अनंत तक' भावुक आलेख है। बापू के अंतिम क्षण का मार्मिक चित्रण किया गया है। 'लपटें और ऊँची उठती गरियां। लाखों लोगों के कदमों से उठी धूल अब राजघाट के आकाश में छा-सी गयी थी। इन लोगों को लग रहा था कि उनका भविष्य स्वतंत्र और प्रेम के इस पिता के बिना शून्य जैसा होगा।' गांधीजी का शरीर तो हमारे बीच नहीं रहा। लेकिन उनका जीवन-दर्शन हमारे बीच है जो हम सबको राह दिखाता रहेगा।

राधारमन

ग्वालियर, मध्य प्रदेश

# धर्म और हम

मो. क. गांधी

अपनी मद्रास-यात्रा के दौरान अस्पृश्यता की समस्या पर बोलते हुए मैंने जोरदार ढंग से अपने को सनातनी हिन्दू बताया है, उतने जोरदार ढंग से ऐसा कोई दावा पहले कभी नहीं किया था। फिर भी हिन्दू धर्म के नाम पर ऐसे बहुत से काम किए जाते हैं, जो मुझे मंजूर नहीं हैं। अगर मैं सचमुच वैसा नहीं हूँ तो मुझे सनातनी हिन्दू अथवा अन्य किसी ढंग का हिन्दू कहलाने की कोई खाहिश नहीं है और निश्चय ही मेरी ऐसी कोई खाहिश तो हरगिज नहीं है कि एक महान धर्म की आड़ लेकर मैं कोई सुधार या बुराई दाखिल करूँ।

इसलिए यह आवश्यक है कि सनातन धर्म का जो अर्थ मैं लगाता हूँ उसे एक बार अन्तिम रूप से स्पष्ट कर दूँ। सनातन शब्द का प्रयोग मैं उसके स्वाभाविक और प्रचलित अर्थ में ही कर रहा हूँ।

मैं अपने को सनातनी हिन्दू इसलिए कहता हूँ कि—

मैं वेदों, उपनिषदों, पुराणों और हिन्दू धर्म ग्रंथों के नाम से प्रचलित सारे साहित्य में विश्वास रखता हूँ, और इसलिए अवतारों और पुनर्जन्मों में भी।

मैं वर्णाश्रम धर्म के उस रूप में विश्वास रखता हूँ, जो मेरे विचार से विशुद्ध वैदिक है, लेकिन उसके आजकल के लोक-प्रचलित और स्थूल रूप में मेरा विश्वास नहीं है।

मैं गो-रक्षा में उसके लोक-प्रचलित रूप से कहीं अधिक व्यापक रूप में विश्वास करता हूँ।

मैं मूर्ति पूजा में अविश्वास नहीं करता।

पाठक इस बात की ओर ध्यान देंगे कि वेदों के सन्दर्भ में मैंने जानबूझकर अपौरुषेय या ईश्वरीय विशेषण का प्रयोग नहीं किया है। कारण, मैं ऐसा नहीं मानता कि सिर्फ वेद ही अपौरुषेय है—ईश्वरीय हैं। 'बाइबिल', 'कुरान' तथा 'जेन्द अवेस्ता' के पीछे भी मैं उतनी ही ईश्वरीय-प्रेरणा मानता हूँ। इसके अलावा, हिन्दू धर्म ग्रंथों में मेरा विश्वास मुझे यह नहीं कहता कि मैं उनके एक-एक शब्द, एक-एक पंक्ति को ईश्वर प्रेरित मानूँ। न मैं ऐसा ही कोई दावा करता हूँ कि मैंने इन अद्भुत ग्रन्थों का मूल रूप में स्वयं अध्ययन किया है लेकिन इतना दावा तो अवश्य करता हूँ कि तत्त्वतः वे जो कुछ सिखाते हैं उसके सत्य को मैं जानता हूँ और उसका अनुभव करता हूँ। उनकी चाहे जितनी पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या की जाए, अगर वह मेरे विवेक और नैतिक बुद्धि को नहीं रुचती तो मैं ऐसी किसी भी व्याख्या का बन्धन स्वीकार करने को तैयार नहीं हूँ। वर्तमान शंकराचार्यों और शास्त्रियों के हिन्दू धर्म ग्रन्थों की सही व्याख्या देने के किसी भी दावे को (अगर ऐसा दावा किया जाता है तो) मैं जोरदार शब्दों में अस्वीकार करता हूँ। इसके विपरीत, मैं ऐसा मानता

हिन्दू अपने उदात्त धर्म को अस्पृश्यता के कलंक से दूषित रखेंगे तब तक वे कभी भी स्वतन्त्रता के पात्र नहीं होंगे और न उसे प्राप्त कर सकेंगे और चूँकि मैं हिन्दू धर्म को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करता हूँ, इसलिए यह कलंक सहना मेरे लिए असम्भव हो गया है।

हूँ कि इन ग्रन्थों का हमारा वर्तमान ज्ञान बहुत ही अव्यवस्थित हालत में है। हिन्दुओं के इस सूत्र में मेरा पूर्ण विश्वास है कि जिसने अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य को सिद्ध नहीं कर लिया, उसने धन-सम्पत्ति की प्राप्ति की आकांक्षा या उसे रखने की लालसा का त्याग नहीं कर दिया, उसे वास्तव में शास्त्रों के रहस्य का ज्ञान नहीं होता। मैं गुरु में विश्वास करता हूँ, किन्तु इस युग में तो लाखों-करोड़ों लोगों को बिना गुरु के ही रहना होगा, क्योंकि पूर्ण पवित्रता और पूर्ण ज्ञान का संयोग किसी भी एक व्यक्ति में मिल पाना आजकल बहुत कठिन हो गया है। किन्तु, इसी से किसी को ऐसा न मान बैठना चाहिए कि वह तो अपने धर्म के सत्य को कभी जान ही नहीं सकता। कारण, अन्य धर्मों की तरह ही हिन्दू धर्म के भी बुनियादी सिद्धान्त सनातन हैं, और उन्हें आसानी से समझा जा सकता है। हर हिन्दू ईश्वर और उसकी अद्वितीयता में विश्वास करता है, पुनर्जन्म और मोक्ष को मानता है। लेकिन जिस चीज ने हिन्दू धर्म को अन्य धर्मों से अलग करके दिखाया वह वर्णाश्रम भी नहीं, गो-रक्षा थी।

मेरे विचार से, वर्णाश्रम मानव प्रकृति की एक सहज विशेषता है, और हिन्दू धर्म ने सिर्फ इतना ही किया है कि उसे शास्त्र का रूप दे दिया है। वर्णाश्रम का सम्बन्ध निश्चय ही जन्म से है। कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से अपना वर्ण बदल नहीं सकता। अपने वर्ण के बन्धनों को न मानना आनुवंशिकता के नियम को अमान्य करना है। लेकिन यह जो हिन्दू समाज को असंख्य जातियों में विभक्त कर दिया गया है, उसे इस सिद्धान्त के साथ बिना किसी कारण के मनमानी करना माना जाएगा। चार विभाग पर्याप्त हैं।

मैं नहीं मानता कि दूसरी जाति वालों के साथ खाने-पीने या विवाह सम्बन्ध करने से किसी का जन्मतः प्राप्त दर्जा छिन ही जाता है। चार वर्ण लोगों के व्यवसाय को निर्धारित करते हैं, वे सामाजिक समागम को प्रतिबन्धित या नियमित नहीं करते। वे लोगों के कर्तव्य निर्धारित करते हैं, किसी को कोई विशेष अधिकार प्रदान नहीं करते। मैं मानता हूँ कि किसी का अपने-आपको ऊँचा मानने और किसी दूसरे को नीचा मानने की धृष्टता करना हिन्दुत्व की सहज प्रकृति के विरुद्ध है। सभी का जन्म ईश्वर की सृष्टि की सेवा करने के लिए हुआ है—ब्राह्मण को यह सेवा अपने ज्ञान से करनी है, क्षत्रिय को अपनी संरक्षण की शक्ति से, वैश्य को अपनी व्यापारिक क्षमता से और शूद्र को शारीरिक श्रम से। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि—उदाहरण के तौर पर—कोई ब्राह्मण शारीरिक श्रम से या अपनी अथवा दूसरों की रक्षा के कर्तव्य से मुक्त हो गया। जन्म से ब्राह्मण मुख्यतः ज्ञानी और विद्यावान पुरुष है और अपनी वंश-परम्परा तथा

प्रशिक्षण की दृष्टि से वह दूसरों को ज्ञान का प्रकाश देने के लिए सबसे उपयुक्त है। इसी तरह किसी शूद्र को, वह जो और जितना ज्ञान प्राप्त करना चाहे, उससे रोकने वाली कोई चीज नहीं है। इतना अवश्य है कि वह शारीरिक श्रम के द्वारा ही सबसे अच्छी सेवा करेगा और उसे अन्य वर्णों के लोगों के सेवोपयोगी विशिष्ट गुणों के प्रति ईर्ष्या का भाव रखने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन अगर कोई ब्राह्मण अपने ज्ञान के बल पर अपने को दूसरों से श्रेष्ठ मानता है तो यह उसके पतन का कारण बनता है, और ऐसा मानना चाहिए कि जो ऐसी श्रेष्ठता का दावा करता है, उसे सचमुच कोई ज्ञान नहीं है। और यही बात अपने विशिष्ट गुणों के बल पर अपने को श्रेष्ठ माननेवाले अन्य वर्णों के लोगों के साथ भी लागू होती है। वर्णाश्रम का मतलब है, आत्मसंयम, शक्ति का रक्षण और उसका सुव्यवस्थित उपयोग।

इस तरह, विभिन्न वर्णों के लोगों के आपस में खान-पान और शादी-विवाह का सम्बन्ध रखने में यद्यपि वर्णाश्रम धर्म में कोई बाधा नहीं पहुँचती, तथापि हिन्दू धर्म ऐसे सम्बन्धों का तीव्र विरोध करता है। हिन्दू धर्म आत्मसंयम में पराकाष्ठा तक पहुँच गया है। इस धर्म का मूल भाव निस्सन्देह आत्मा की मुक्ति के लिए ऐहिक सुख का त्याग है। अपने पुत्र के भी साथ भोजन करना किसी हिन्दू के कर्तव्य का कोई अंग नहीं है। और पत्नी का चुनाव एक खास वर्ग तक सीमित रखकर वह ऐसा आत्मसंयम बरतता है जो शायद ही कहीं देखने को मिले। हिन्दू धर्म मोक्ष-प्राप्ति के लिए विवाहित जीवन को आवश्यक नहीं मानता। जन्म की तरह विवाह भी मनुष्य के पतन की निशानी है। मोक्ष जन्म से और इसलिए मृत्यु से भी छुटकारा है। विभिन्न वर्णों के पारस्परिक खान-पान और शादी-विवाह के सम्बन्धों पर रोक लगाना तीव्र आत्मिक विकास के लिए आवश्यक है। लेकिन इस पाबन्दी का पालन वर्ण की कसौटी नहीं है। अगर कोई ब्राह्मण ज्ञान के बल पर सृष्टि की सेवा के अपने कर्तव्य से विमुख नहीं हो गया हो तो किसी शूद्र भाई के साथ भोजन करके भी वह ब्राह्मण ही रहेगा। ऊपर मैंने जो कुछ कहा है, उससे निष्कर्ष यही निकलता है कि भोजन और विवाह विषयक संयम जातीय श्रेष्ठता की किसी भावना पर आधारित नहीं है। अगर कोई हिन्दू अपने को श्रेष्ठ मानकर किसी अन्य व्यक्ति के साथ भोजन करने से इन्कार करता है तो इसका मतलब है, वह अपने धर्म को गलत रूप में पेश कर रहा है।

मगर दुर्भाग्य से आज तो हिन्दू धर्म खान-पान सम्बन्धी विधि-निषेधों का ही धर्म बनकर रह गया जाना पड़ता है। एक बार एक मुसलमान भाई के घर मैंने एक टोस्ट खा लिया। यह देखकर वहाँ उपस्थित एक धर्मनिष्ठ हिन्दू भाई हैरान रह गए।

मुझे जब उन्होंने एक मुसलमान भाई द्वारा दिए प्याले में दूध डालते देखा तो उन्हें बड़ा दुख हुआ, लेकिन मुसलमान के हाथ का टोस्ट खाते देखकर तो उनकी व्यथा का अन्त न रहा। अगर हिन्दू धर्म क्या और किसके साथ खाना चाहिए, इसी से सम्बन्धित नियमों के विस्तृत जाल में फँस गया तो वह अपना मूलतत्त्व खो बैठेगा। मादक पेयों और द्रव्यों के सेवन से तथा तरह-तरह के, खाद्यों, विशेषकर मांस आदि से परहेज रखना आत्मा के विकास में बड़ा सहायक है, लेकिन यह अपने आप में कोई सिद्धि नहीं है। मांसाहार करने वाले और सबके साथ खाने-पीने वाले किन्तु ईश्वर से डरकर चलनेवाले बहुत से लोग उस व्यक्ति की अपेक्षा मुक्ति के अधिक निकट है जो मांसाहार तथा अन्य बहुत-सी बातों से तो धार्मिक निष्ठा के साथ परहेज रखता है किन्तु अपने हर काम में, आचरण में ईश्वर की अवहेलना करना है।

लेकिन हिन्दू धर्म का मूलतत्त्व गोरक्षा है। मेरे लिए गो-रक्षा का विचार मानवता के विकास क्रम में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम है। यह मनुष्य को अपनी जातीय परिधि से बाहर ले जाता है। गाय में मैं समस्त मानवेतर प्राणियों का दर्शन करता हूँ। मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि गाय के माध्यम से वह समस्त प्राणी-जगत के साथ तादात्म्य का अनुभव करे। और गाय को ही पूजा के लिए क्यों चुना गया, यह मैं स्पष्ट देख सकता हूँ। भारत में गाय मनुष्य की सबसे अच्छी साथी थी। वह समृद्धि का स्रोत थी। वह दूध ही नहीं देती थी, उसी के बल पर खेती का काम भी चलता था। गाय करुणा का काव्य है। इस निरीह प्राणी में करुणा के दर्शन होते हैं। वह करोड़ों भारतीयों की माँ है। गोरक्षा का मतलब है, ईश्वर की सृष्टि के समस्त मूक प्राणियों की रक्षा। प्राचीन ऋषियों ने, वे जो भी रहे हों, मनुष्य के दया-भाव को मानव जाति की परिधि से निकाल कर सृष्टि भी में फैलाने का काम गाय से ही शुरू किया। मानवेतर प्राणियों के प्रति करुणा रखने की आवश्यकता इस कारण और भी बढ़ जाती है कि वे मूक हैं। गो-रक्षा विश्व को हिन्दू धर्म की देन है। और जब तक गोरक्षा करने वाले हिन्दू दुनिया में मौजूद हैं तब तक हिन्दू धर्म भी जीवित रहेगा।

और गो-रक्षा का तरीका है उसकी रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देना। गाय की रक्षा के लिए मनुष्य की हत्या करना हिन्दुधर्म और अहिंसा धर्म से विमुख होना है। हिन्दुओं के लिए तपस्या द्वारा, आत्म-शुद्धि द्वारा और आत्माहुति द्वारा गो-रक्षा का विधान है। लेकिन आजकल की गोरक्षा का रूप बिगड़ गया है। उसके नाम पर हम बराबर मुसलमानों के साथ झगड़ा-फसाद करते रहते हैं, जब कि गो-रक्षा का मतलब है मुसलमानों को

अपने प्यार से जीतना। एक मुसलमान भाई ने कुछ दिन पहले मुझे एक पुस्तक भेजी थी जिसमें गौओं और उनकी सन्तानों के प्रति बरती जानेवाली क्रूरता का विस्तृत वर्णन था। उसमें बताया गया है कि किस तरह हम उसमें एक-एक बूंद दूध चूस लेते हैं, किस तरह हम उसे भूखों रखकर सुखा देते हैं, उसके बछड़ों के साथ हम कैसा बुरा बरताव करते हैं, किस तरह हम उन्हें उनके हिस्से के दूध से वंचित कर देते हैं, बैलों के प्रति कितनी क्रूरता दिखाते हैं, किस तरह उन्हें बधिया कर देते हैं, मारते हैं और किस तरह उन पर शक्ति से अधिक बोझा लाद देते हैं। अगर उन्हें वाणी होती तो हम उनके प्रति जो अपराध करते हैं उसकी वे ऐसी साक्षी देते कि दुनिया दाँतों तले उँगुली दबाने लगती। अपने मवेशियों के प्रति हम जो दुर्व्यवहार करते हैं, उनमें से एक-एक इस बात का सूचक है कि हमारा न ईश्वर में विश्वास है और न हम हिन्दू हैं। मैं नहीं समझता कि मवेशियों की हालत किसी भी देश में उतनी बुरी है जितनी इस अभागे देश में है। इसके लिए हमें अंग्रेजों को दोष नहीं देना चाहिए। हम इसका दोष गरीबों के मत्थे भी नहीं मढ़ सकते। हमारे मवेशियों की इस दयनीय स्थिति का एकमात्र कारण यही है कि हम उनकी उपेक्षा-अपराधपूर्ण उपेक्षा करते हैं। हमारे पिंजरापोल हमारे दयाभाव के प्रमाण हैं सही, किन्तु साथ ही इस बात के सबूत भी हैं कि उस दया भाव को कार्य रूप देने में हम कितने ढीले हैं। वे पिंजरापोल आदर्श दुग्ध-शालाएँ और देश के लिए लाभदायक संस्थाएँ बनने के बजाए बूढ़े और बीमार पशुओं के लिए शरणस्थल बनकर रह गए हैं।

सच्चे हिन्दू की पहचान तिलक नहीं है, मंत्रों का सही उच्चारण नहीं है, तीर्थाटन नहीं है और न जाति-पाँत के नियमों और बन्धनों का सूक्ष्म पालन ही है। उसकी पहचान तो उसकी गो-रक्षा की क्षमता है। गो-रक्षा के धर्म को स्वीकार करते हुए भी हमने गौओं और उनकी सन्तानों को दासत्व की स्थिति में पहुँचा दिया है, और परिणामतः हम स्वयं भी दास बन गए हैं। अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि मैं अपने को सनातनी हिन्दू

**हिन्दू धर्म का मूलतत्त्व गो-रक्षा है। मेरे लिए गो-रक्षा का विचार मानवता के विकास क्रम में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम है। यह मनुष्य को अपनी जातीय परिधि से बाहर ले जाता है। गाय में मैं समस्त मानवेतर प्राणियों का दर्शन करता हूँ। मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि गाय के माध्यम से वह समस्त प्राणी-जगत के साथ तादात्म्य का अनुभव करे।**

क्यों समझता हूँ गाय की चिन्ता मुझे किसी से कम नहीं है। मैंने खिलाफत के मामले को अपना इसलिए बना लिया है कि मैं देखता हूँ उसकी रक्षा के द्वारा मैं पूर्ण गो-रक्षा कर सकता हूँ। मैं अपने मुसलमान भाइयों से यह नहीं कहता कि मेरी सेवाओं का ख्याल करके वे गो-रक्षा करें। लेकिन मैं सर्वशक्तिमान ईश्वर से रोज ही यह प्रार्थना करता हूँ कि मैं जिस पक्ष को सर्वथा न्याय-सम्मत समझता हूँ उसके लिए मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह उस सर्वशक्तिमान को इतना अच्छा लगे कि वह मुसलमानों का हृदय परिवर्तित कर दे और अपने हिन्दू भाइयों के प्रति उनमें इतनी दया भी दे कि जिस पशु को हिन्दू अपने प्राणों की तरह प्यारा मानते हैं, उसकी रक्षा की ओर वे स्वयं ही प्रवृत्त हो जाएँ।

जैसे अपनी पत्नी के बारे में अपनी भावना का वर्णन करना मेरे लिए कठिन है वैसे ही हिन्दू धर्म के बारे में भी। उसका मुझ पर जितना असर होता है, उतना संसार की और किसी स्त्री का नहीं हो सकता। ऐसा नहीं कि उसमें दोष है ही नहीं। मैं तो कहूँगा, मुझे उसमें जितने दोष दिखाई देते हैं, दरअसल उससे भी अधिक दोष उसमें होंगे। लेकिन मुझे उसके साथ एक अटूट बन्धन का अनुभव होता है। मेरी यही भावना हिन्दू धर्म के बारे में भी है, भले ही उसमें जो दोष हों, उसकी जो सीमाएँ हों। हिन्दू धर्म की दो ही पुस्तकें हैं, जिन्हें जानने का दावा मैं कर सकता हूँ। वे हैं— 'गीता' और तुलसीकृत 'रामायण'। इन दोनों का संगी मेरे मन को जितना आह्लादित करता है उतनी और कोई चीज नहीं करती। एक बार जब मुझे लगा कि मेरी अन्तिम घड़ी आ पहुँची है, तब मझे 'गीता' से ही सांत्वना प्राप्त हुई थी। आजकल हिन्दुओं के बड़े-बड़े मन्दिरों में जो बुराई चल रही है उसे मैं जानता हूँ। उनमें ऐसे दोष हैं, जिनका वर्णन भी नहीं किया जा सकता, फिर भी मुझे उनसे प्रेम है। उनमें मैं एक विशेष आकर्षण का अनुभव करता हूँ—ऐसा आकर्षण जैसे आकर्षण का अनुभव मैं और किसी चीज के प्रति नहीं करता। मैं आदि से अंत तक एक सुधारक हूँ। लेकिन ऐसा नहीं है कि मैं उत्साहातिरेक में हिन्दू धर्म की असली चीजों को भी छोड़ दूँ। मैंने कहा है, मैं मूर्ति-पूजा में अविश्वास नहीं करता। किसी मूर्ति को देखकर मेरे मन में श्रद्धा का कोई भाव नहीं जगता। लेकिन मैं समझता हूँ, मूर्ति-पूजा मानव स्वभाव का अंग है। प्रतीकों के प्रति हमारा सहज आकर्षण होता है। अन्यथा अन्य स्थानों की अपेक्षा गिरजाघर में कोई अधिक गम्भीर क्यों हो उठता? मूर्तियाँ पूजा में सहायक होती हैं। कोई भी हिन्दू मूर्ति को भगवान नहीं समझता। मैं मूर्ति पूजा को पाप नहीं मानता।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि हिन्दू धर्म कोई वर्जनशील धर्म नहीं है। उसमें दुनिया के सभी

नबियों और पैगम्बरों की पूजा के लिए स्थान है। वह साधारण अर्थों में प्रचार का ध्येय रखनेवाला धर्म नहीं है। बेशक, इसके अंचल में कई जातियाँ समा गई हैं, लेकिन यह विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया की तरह और अदृश्य रूप से हुआ है। हिन्दू धर्म सभी लोगों को अपने-अपने धर्म के अनुसार ईश्वर की उपासना करने को कहता है और इसलिए इसका किसी धर्म से कोई झगड़ा नहीं है।

हिन्दू धर्म के विषय में मेरी यह धारणा है और इसलिए मैं अस्पृश्यता को मानने के लिए अपने मन को कभी भी तैयार नहीं कर पाया हूँ। मैं बराबर इसे हिन्दू धर्म का एक भारी दोष मानता आया हूँ। यह सच है कि यह दोष हमारे यहाँ परम्परा से चला आ रहा है, लेकिन यही बात दूसरे बहुत से बुरे रिवाजों के साथ भी लागू होती है। हिन्दू धर्म अनेक युगों का विकास फल है। हिन्दुस्तान के लोगों के धर्म को हिन्दू-धर्म की संज्ञा ही विदेशियों ने दी। इसमें सन्देह नहीं कि किसी समय धर्म के नाम पर पशु-बलि दी जाती थी। लेकिन यह कोई धर्म नहीं है, और हिन्दू धर्म तो नहीं ही है। और इसी तरह मुझे यह भी लगता है कि जब गोरक्षा हिन्दुओं का धर्म बन गई तब गोमांस खाने वालों का समाज से बहिष्कार कर दिया गया। इसलिए निश्चय ही समाज में भारी संघर्ष हुआ होगा। यह सामाजिक बहिष्कार सिर्फ इस धार्मिक बन्धन को न मानने वालों पर ही नहीं लागू किया गया, बल्कि उनके पापों का फल उनकी सन्तानों को भी दिया गया। जो रिवाज आरम्भ में शायद अच्छे उद्देश्यों से शुरू किया गया वह बाद में कठोर परिपाटी के रूप में बदल गया और हमारे धर्मग्रन्थों में भी कुछ ऐसे श्लोक जोड़ दिए गए जिनसे यह परिपाटी सर्वथा अनुचित और अन्यायपूर्ण ढंग से स्थायी बन गई। मेरा यह अनुभव सही हो या न हो, अस्पृश्यता बुद्धि के तथा करुणा, दया या प्रेम की भावना के विरुद्ध है। जिस धर्म ने गाय की पूजा का प्रवर्तन किया, वह मनुष्य के निर्दय और अमानवीय बहिष्कार का समर्थन कैसे कर सकता है, उसका औचित्य कैसे ठहरा सकता है? और भले ही कोई मेरे टुकड़े-टुकड़े कर दे, मैं दलित वर्गों का साथ नहीं छोड़ सकता। जब तक हिन्दू अपने उदात्त धर्म को अस्पृश्यता के कलंक से दूषित रखेंगे तब तक वे कभी भी स्वतन्त्रता के पात्र नहीं होंगे और न उसे प्राप्त कर सकेंगे और चूँकि मैं हिन्दू धर्म को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करता हूँ, इसलिए यह कलंक सहना मेरे लिए असम्भव हो गया है। अगर हम अपनी जाति के पाँचवें हिस्से को हमसे बराबरी के दर्जे पर मिलने-जुलने के अधिकार से वंचित करते हैं तो उसका मतलब है, हम ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

गांधी वांगमय से साभार  
यंग इंडिया, 6/10/1921, संपादित अंश

## विवेकपूर्वक कदम बढ़ाते जायें

बापू की मृत्यु के बाद वर्धा में सर्वोदय सम्मेलन हुआ था। 1948 का मार्च महीना था। राष्ट्र के बड़े-बड़े नेता सेवाग्राम में इकट्ठा हुए थे। सभी के मन में एक सवाल था, बापू नहीं हैं, अब क्या करेंगे? एक ही व्यक्ति वहाँ था, जिसके मन में यह प्रश्न नहीं था। वह विनोबा थे। उनकी आवाज में दृढ़ता थी। लेकिन जितनी दृढ़ता थी, उससे अधिक नम्रता थी। बहुत सारी चर्चा हुई। कुछ कह रहे थे, अब तो हमारी सरकार आयी है, हमको वह क्या-क्या सुविधा देगी? कुछ कह रहे थे, बापू ने ये-ये कहा है। सब बड़े-बड़े, मुझसे एक पीढ़ी बड़े लोग थे। मैं शायद सबसे छोटा था। मैं देख रहा था। इतने में जवाहरलाल जी ने उठकर कहा, फिजूल बातों में समय जा रहा है। विनोबा जी को ही पूछा जाये। अब देखिये, विनोबा उनको क्या जवाब देते हैं? “हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं?” विनोबा यह नहीं माँग रहे हैं कि आप हमें क्या मदद कर सकते हैं; बल्कि वे पूछ रहे हैं कि हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं? यह बोलने के पीछे उनकी अपार नम्रता थी, दृढ़ता थी और उनका अनुभव था।

अभी मैंने किशोरलाल काका (मशरूवाला) की कुटी देखी। वे विवेक-पुरुष थे। उनमें विवेक की गहराई थी। विवेक केवल सत् और असत् के बीच पसन्द करने की चीज नहीं है। यह तो मामूली आदमी भी कर सकता है कि अच्छा लो और बुरा छोड़ो। विवेक की बात तो तब आती है, जो-जो अच्छा दिखता है उसमें से कोई नया निष्कर्ष निकालें। तभी सही विवेक होगा। आज देश की वर्तमान परिस्थिति को हमें विवेक से देखना होगा।

जब हम विवेक के इस्तेमाल की बात करते हैं, तो सबसे पहले तत्त्व और तन्त्र के भेद को समझ लेना चाहिए। कुछ विचार तत्त्वमूलक होते हैं तो कुछ विचार तन्त्र-सम्बन्धी होते हैं। तत्त्व देश-काल अबाधित होता है, जैसा कि सत्य-अहिंसा। यह कोई नहीं कहेगा कि सत्य की जरूरत यहाँ है, पाकिस्तान में नहीं है। वैसे यह भी नहीं कहेगा कि अहिंसा की जरूरत आज है, लेकिन 500 साल के बाद नहीं रहेगी। तत्त्व देश-काल अबाधित है, जबकि तन्त्र देशकाल सापेक्ष है। स्थान और समय के अनुसार तन्त्र को बदलना पड़ेगा और बदलना चाहिए। दिक्कत हमारी क्या होती है कि हम तन्त्र को ही तत्त्व मान लेते हैं। पर तन्त्र जरूरत पड़ने पर बदलना चाहिए, लेकिन वह बदलना तत्त्व की दिशा में होना चाहिए। तकली से लेकर हम अम्बर चरखे तक गये। 1927-28 में बापू ने उसके लिए हजार रुपए का इनाम घोषित कर दिया, जो चरखे में संशोधन हमारी शर्तों के अनुसार होना चाहिए—चरखा गाँव में बनना चाहिए, वहीं सुधरना चाहिए इत्यादि।



नारायण देसाई

विवेक केवल सत् और असत् के बीच पसन्द करने की चीज नहीं है। यह तो मामूली आदमी भी कर सकता है कि अच्छा लो और बुरा छोड़ो। विवेक की बात तो तब आती है, जो-जो अच्छा दिखता है उसमें से कोई नया निष्कर्ष निकालें। तभी सही विवेक होगा। आज देश की वर्तमान परिस्थिति को हमें विवेक से देखना होगा।

कुछ लोगों को एकाग्रता पसन्द है तो कुछ को समग्रता पसन्द है। गांधीजी जैसे समग्रता के काम के लिए लगातार देश-भर घूमते हैं तो विनोबा एकाग्रतापूर्वक एक जगह बैठकर गहराई में जाते हैं। लेकिन गांधी के न रहने पर वही विनोबा लगातार घूमने लगे। तो देश-काल के अनुसार ऐसा विवेक करना पड़ता है।

15 अगस्त, 1947 में देश को आजादी मिली। फिर विभाजन का कांड चला और उसके बाद बड़ी घटना हुई, बापू गये। तो पूरा इतिहास करवट ले, ऐसी घटनाएँ घटती गयीं। फिर एक बहुत बड़ा संकट खड़ा हुआ। मैं बापू के

**1909 में बापू ने स्वतन्त्रता की अद्भुत परिभाषा बता दी—स्वराज्य यानी स्व का राज नहीं, स्व के ऊपर राज! बहुत गहरा अर्थ है इसमें। फिर 1946 में कहा, जब स्वराज आयेगा तो देश का सबसे छोटा आदमी भी यह सोचेगा कि इस देश का इतिहास बनाने में मेरा भी कुछ योगदान है। तब स्वतन्त्रता आयी ऐसा लगेगा। लेकिन आज परिस्थिति सारी विपरीत है। जनसामान्य की सत्ता बनने के स्थान पर प्रतिनिधियों की सत्ता बनी है।**

जाने को संकट नहीं मानता, न करोड़ों लोग बेहाल हुए, जो खून की नदियाँ बहीं, उसे संकट नहीं मानता हूँ। मैं कहना चाहता हूँ कि सबसे बड़ा संकट यह है कि आजादी तक इस देश के समक्ष एक उद्देश्य था—स्वतन्त्रता का। आजादी के बाद पूरे देश के सामने सबको प्रेरित करे ऐसा कोई उद्देश्य रहा नहीं।

वैसे भारत के संविधान ने चार उद्देश्य शब्दों में प्रकट किये हैं और गाइडलाइन्स के रूप में बता भी दिया है कि

देश को इस दिशा में जाना है। वे चार शब्द हैं—स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुता और न्याय। तीन शब्द तो पुराने शास्त्रों से लिये और चौथा उसमें जोड़ा हुआ है। देश को दिशा दिखाने वाली चीज कहीं। आजकल इन चारों में से एक भी शब्द सुनाई देता है? इनमें से किसी की चर्चा तक नहीं है। लेकिन हमें विवेकपूर्ण उसका चिन्तन करना चाहिए।

1909 में बापू ने स्वतन्त्रता की अद्भुत परिभाषा बता दी—स्वराज्य यानी स्व का राज नहीं, स्व के ऊपर राज! बहुत गहरा अर्थ है इसमें। फिर 1946 में कहा, जब स्वराज आयेगा तो देश का सबसे छोटा आदमी भी यह सोचेगा कि इस देश का इतिहास बनाने में मेरा भी कुछ योगदान है। तब स्वतन्त्रता आयी ऐसा लगेगा। लेकिन आज परिस्थिति सारी विपरीत

है। जनसामान्य की सत्ता बनने के स्थान पर प्रतिनिधियों की सत्ता बनी है। दिशा ही उल्टी पकड़ी है। इसके लिए अँग्रेजी में जिसे 'ग्रामरूट' कहते हैं, बिल्कुल नीचे के लोगों के पास कौन गये हैं? अन्तिम जन अछूता ही रह गया है! हम गाँव-गाँव पदयात्रा करने वाले लोग भी उनके पास आज कहाँ जाते हैं? जिस स्वराज में मामूली मनुष्य की पूछ नहीं है, उसे क्या स्वतन्त्रता कहेंगे?

अब समानता लें। उसकी स्थिति तो स्वतन्त्रता से भी बदतर है। विषमता मिटाने का ठोस और दीर्घ पुरुषार्थ एकमात्र विनोबा ने किया। और उसे काफी हद तक सफल भी किया। आज हम जिस विकास की बात सुन रहे हैं, उस विकास की कल्पना ही समानता के लिए घातक है। जो विकास विषमता पैदा करता है, वह विकास कैसे माना जायेगा?

बन्धुता यानी केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात मैं नहीं कर रहा हूँ। बन्धुता के विरोध में एक बहुत बड़ी बात है, जो हमारे खून में भिन गयी है। वह है, जातिप्रथा। मुझे याद है, जब एक सर्वोदय सम्मेलन में राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद व जवाहरलाल जी उपस्थित थे। आमतौर पर विनोबा जी बाद में बोलते थे, लेकिन उस दिन कहा कि मैं पहले बोलूँगा, ताकि जवाहरलाल जी जवाब दे सकें। उसमें विनोबा जी ने पूछा था कि राजा राममोहन रॉय से लेकर आज तक हम लोगों ने जातिप्रथा पर प्रहार किया और जो हकीकत में कम हो रही थी, वह इन चुनावों के कारण कुछ मजबूत होती दिख रही है। उसके विषय में प्रधानमंत्री का क्या कहना है? जवाहरलाल जी ने कहा—“विनोबा ने बहुत अहम् प्रश्न किया।” बस! विनोबा ने अहम् प्रश्न किया, यह कहने की जरूरत नहीं थी, उतना तो समझने वाले सामने बैठे थे। लेकिन उन्होंने और कुछ कहा ही नहीं। लेकिन मैं जो कह रहा हूँ वह और भी विषमता की बात है। और वह यह है कि राजनीतिक लोगों में पहले जो एक मेल का तत्त्व था, वह बाद में करीब-करीब काफूर हो गया। मुझे मालूम है कि पहले एक-दूसरे से विरोधी विचारवाले होने पर भी, वे आपस में, आदर रखनेवाले थे।

गांधीजी दक्षिण अफ्रीका से पहली बार भारत आये थे। वे पूना में सभा करना चाहते थे तो लोकमान्य तिलक ने कहा कि मैं अगर सभा बुलाऊँगा तो गोखले के लोग नहीं आयेंगे। तुम भंडारकर या और किसी को कहो ताकि मेरे और उनके—दोनों लोग आ सकें। इतना एक-दूसरे का ध्यान था। तिलक महाराज कहते हैं कि गोखले के लोग भी तुम्हारी बात सुनें। आज राजनीति में मतभेद यानी दुश्मनी मानी गयी है।

गरीबों के पास न्याय नहीं पहुँचा है, यह सर्वस्वीकृत है। और पहुँचाने के प्रयास भी दिखते नहीं। तो ऐसी स्थिति में हमें क्या करना होगा ?

गांधी ने 'हिन्द-स्वराज' में तीन चीजों पर जोर दिया है। उसमें गुलामी का विरोध तो है ही, साथ ही उपभोक्तावाद का तथा केन्द्रीकरण का विरोध किया है। आज जिस प्रकार से उपभोक्तावाद चल रहा है, उसमें एक महत्व का साधन है, विज्ञापन। आदमी के दिमाग को कैसे प्रभावित करना, उसे खोखला और शरीरकेन्द्रीय बनाना यह विज्ञापनों का कार्य है। विज्ञापनों में जिस तरह स्त्री-शरीर का खुलेआम प्रदर्शन किया जाता है, उसमें महिलाओं का घोर अपमान है। स्वयं महिलाओं को और हमें भी उसे सहन नहीं करना चाहिए। कहते हैं कि मनुष्य के मनोविज्ञान का हम सदुपयोग कर रहे हैं!! लेकिन वास्तव में ये सारी चीजें संस्कृति के विनाश की ओर जा रही हैं। उस विषय में हमें सोचना चाहिए।

तीसरी बात का गांधी ने विरोध किया था, केन्द्रीकरण का। विकेन्द्रीकरण हम चाहते हैं लेकिन हमारे काम करने की जो पद्धति है, वह केन्द्रीकरण की पोषक है। गुजरात विद्यापीठ के कुलपति के नाते ये मैं कह रहा हूँ। एक अच्छी संस्था है, लेकिन केन्द्रित है। इसलिए उसकी दिशा उल्टी है, ऐसा मुझे लगता है। उसके दोष हम अनुभव करते हैं। असल बात यह है कि हमारे जो आदर्श हैं, उनसे हमारे काम करने की पद्धति का मेल नहीं होता। आदर्श अलग है, पद्धति अलग है, उसमें हमें मेल करने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ क्षेत्रों में हमें विकेन्द्रीकरण का तो कुछ क्षेत्र में केन्द्रीकरण प्रयोग करना चाहिए। उसका मेल करने में योग्यता-अयोग्यता का विचार करना पड़ेगा। आज की परिस्थिति का भी विचार करना पड़ेगा। जब यह सब होगा, तब उसको कहेंगे विवेक। मनुष्य अपनी शक्तियों को जाने, कमजोरियों को जाने, परिस्थिति को जाने और उसके अनुरूप पद्धति को बिठाये, उसको कहते हैं विवेक। उस स्थिति तक हमको पहुँचना है।

बापू का जीवन यानी सत्य की अविरोध खोज। और उनकी खोज में है सत्य के टुकड़े नहीं हो सकते हैं। इसलिए दक्षिण अफ्रीका वे जाते हैं और कहते हैं— वकालत तो करूँगा, लेकिन सत्य के आधार पर करूँगा। बचपन में हरिश्चन्द्र नाटक देखते हैं तो कहते हैं कि मैं अकेला ही क्यों, सारे लोग क्यों न हरिश्चन्द्र बन सकें? व्यक्ति और समष्टि का भेद गांधी को



स्वीकार नहीं था।

व्यक्ति, समष्टि और सृष्टि—ये तीनों चीजें मिलकर दुनिया है। एक और बात मैं इसमें जोड़ना चाहूँगा—सृष्टिकर्ता। इन चारों में मेल देखने की गांधी की खोज थी। विनोबा ने भी यही कहा कि भक्ति ठीक है, पर उसके साथ कर्म और ज्ञान भी हो। इतना बड़ा ज्ञानयोगी विनोबा, पर वह भक्ति-कर्म-ज्ञान का समन्वय मानता हैं! वे कहते हैं कि भक्ति कैसी? ज्ञानपूर्ण। कर्म कैसा? भक्तिपूर्ण। तीनों एकत्र न हों तो वह सुसंवादिता नहीं मानी जायेगी। इसलिए व्यक्ति के व्यक्तित्व में इन तीनों के समन्वय की अपेक्षा है।

अब समष्टि के साथ मेल की बात। गांधी ने देखा कि मेरे लिए मैं घर में जो करूँ, वह बाहर न कर सकूँ ऐसी स्थिति नहीं हो सकती। और बाहर मैं नहीं कर सकता, वह घर में भी मैं करने को तैयार नहीं हूँ। उसमें से समष्टि के साथ का समन्वय होगा।

आगे सृष्टि के साथ अनुकूल होने की बात है। एक-एक कदम सृष्टि के साथ मिलना चाहिए। हार्मनी व्यक्ति के साथ, हार्मनी समष्टि के साथ, हार्मनी सृष्टि के साथ और हार्मनी सृष्टिकर्ता के साथ का मतलब है 'आम्ही विघडलों, तुम्ही विघडाना'। यही अर्थ रह जाता है और कोई अर्थ उसमें से बचता नहीं है।

अभी मैं एक किताब बापू के तीन प्रमुख विचारों को ध्यान में रखकर लिख रहा हूँ। उसमें एक है व्रतों के बारे में, दूसरी रचनात्मक कार्य और तीसरी सत्याग्रह के बारे में। मुझे लगता है ये तीन चीजें हों तो पूरा गांधी-विचार आ जायेगा।

**बापू का जीवन यानी सत्य की अविरत खोज। और उनकी खोज में है सत्य के टुकड़े नहीं हो सकते हैं। इसलिए दक्षिण अफ्रीका वे जाते हैं और कहते हैं— वकालत तो करूँगा, लेकिन सत्य के आधार पर करूँगा। बचपन में हरिश्चन्द्र नाटक देखते हैं तो कहते हैं कि मैं अकेला ही क्यों, सारे लोग क्यों न हरिश्चन्द्र बन सकें? व्यक्ति और समष्टि का भेद गांधी को स्वीकार नहीं था।**

करना ही है। गांधी ने रचनात्मक काम का उद्देश्य माना था कि सामान्य लोगों की अहिंसक शक्ति उससे जागृत होगी। यह बात हमें करनी होगी। हमने बहुत सारे ठोस काम किये। लेकिन सामान्य जनता की अहिंसक शक्ति उसमें से पैदा हुई। अगर नहीं हुई तो ग्रासरूट में जाओ, उन तक पहुँचो और तुम्हारी ताकत और विचारनिष्ठा होगी तो उनकी भी ताकत उसमें से बनेगी। उस दृष्टि से हमको चलना है। मेरी चिन्ता का एक विषय यह भी है, जिसे उसके साथ मैं जोड़ देता हूँ। अभी देश की जनसंख्या बापू जब थे, उससे तीन-चार गुनी बढ़ी हो गयी है। यह फर्क हुआ ही है। लेकिन उस समय लोग 70% गाँवों में और 30% शहरों में थे। और अब 50% के लगभग शहरों में रहने लगे हैं। अपने पुराने तत्त्वज्ञान में 'पुरन्दर' शब्द है। इसका अर्थ है, नगरों को तोड़ने वाला।

लेकिन मैं पुरन्दर का कार्यक्रम सुझाना नहीं चाहता हूँ, मैं तो इतना ही सुझाना चाहता हूँ कि हमको शहरों के कार्यक्रम का विचार करना पड़ेगा। शहरों के कार्यक्रम के बारे में जो सोचना है, उसमें तरुणों के कार्यक्रम को सबसे पहले प्राथमिकता देनी पड़ेगी।

मुझे याद है कि पहले कितने स्टडी सर्कल चलते थे। आज कोई स्टडी सर्कल नहीं चलते। आज के लड़कों को पूछो तो सिवाय सिनेमा के एक्टर, क्रिकेट के खिलाड़ियों के और किसी सेलिब्रेटी का नाम नहीं मालूम है। यह स्थिति है। उनकी उम्र में मैं था, तब देश की समस्याओं का विचार करता था। क्योंकि देश में स्टडी सर्कल चलते थे। आज की परिस्थिति के बारे में तरुण सोचता नहीं, उसको उस तरफ मोड़ना एक बहुत बड़ा रचनात्मक कार्य है। उसमें हम लोगों को लगना होगा।

दूसरा, जो भी कार्यक्रम चलायें वह सृजनात्मक होना चाहिए, क्योंकि आज का विकास विध्वंसक हो रहा है। उस प्रकार के काम हमको ढूँढ़ने चाहिए। मैं वेडछी में रहता हूँ, वहाँ से डेढ़ मील दूर वालोड गाँव है, वहाँ की एक हजार से अधिक महिलाएँ रोज पापड़ बनाती हैं। इतनी महिलाओं को मजदूरी मिल गयी। यह बापू के 18 रचनात्मक कामों में नहीं है, फिर भी ग्रामोद्योग के अन्तर्गत आ सकते हैं। इस प्रकार के काम हम लोगों को ढूँढ़ने पड़ेंगे। मैंने इजराइल के एक स्कूल में 11वें दर्जे में हवाई जहाज बनाने की शिक्षा देते हुए देखा। तो मैं यह कहता हूँ कि ऐसे अनेक प्रकार की शिक्षा तरुणों और महिलाओं को दी जायें, जिसमें से उन्हें काम मिले, अपने पैरों पर खड़े हो सकें। क्योंकि महिलाओं के लिए तो हम कोई कार्यक्रम ही नहीं सोच रहे हैं! वैसे कार्यक्रम भी हमको सोचने पड़ेंगे। यह रचनात्मक काम की असली दिशा है। उस बारे में मुझे इतना ही कहना है कि उत्तम को अच्छे का दुश्मन न बनायें। हमसे उत्तम नहीं हो रहा है तो अच्छा भी न करें, ऐसा न हो। अगर एक कदम अच्छा हो रहा है तो उतना ही करें। हम घूमते रहें, घूमते रहें और ग्रामदान नहीं कर सके तो बैठ गये, ऐसा नहीं होना चाहिए। अरे, कम-से-कम ग्राम भावना बने, इतना तो करो। उसके बाद ग्रामदान तक पहुँचोगे, फिर उससे बढ़कर ग्राम-स्वराज तक पहुँचोगे। हम जहाँ हैं, उससे एक-एक कदम आगे बढ़ना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है।

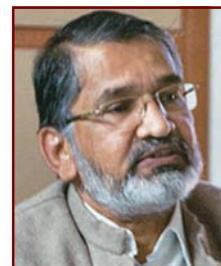
मित्र-मिलन से साभार

## जीवन ही शिक्षा है

यह पूरा वर्धा परिसर मेरा विद्यालय रहा है। अपने जीवन में 15 वर्ष तक महिलाश्रम, गोपुरी, सेवाग्राम के विद्यालय में मैं पढ़ा और विनोबा जी से तो मैं जीवन-भर सीखता रहा, आज भी सीखता हूँ, हर रोज सीखता हूँ। बचपन में विनोबा जी को महापुरुष के रूप में देखा, फिर भूदान-ग्रामदान के उद्गाता के रूप में देखा, आगे उनको ऋषि के रूप में भी देखा। लेकिन मुझे याद नहीं आता कि मैंने उन्हें कभी शिक्षाशास्त्री के रूप में देखा या समझा हो।

1980 के करीब दुनिया के एक बहुत बड़े चिन्तक, विचारक इवान इलिच सेवाग्राम आकर सात दिन रहे। इवान इलिच 60-70 के दशक में दुनिया के एक-एक अहम् सवाल को उठाकर उस पर नवीन चिन्तन प्रकट करते रहे। दुनिया में जो चल रहा है उस पर प्रश्नचिह्न उठाने वाले वे एक महा चिन्तक के रूप में जाने जाते थे। शिक्षा के बारे में उनकी एक किताब 'डि स्कूलिंग सोसायटी'—समाज को शालाओं से मुक्त करो, बहुत प्रसिद्ध हुई। तो इवान इलिच को सेवाग्राम से पवनार विनोबा जी को मिलने आना था और मुझे कहा गया कि तुम ले जाओ। मैं उनके साथ जीप में बैठकर सेवाग्राम से पवनार निकला। मैंने सोचा कि विनोबा जी के बारे में मैक्सिको में रहने वाले इवान इलिच कितना जानते होंगे मालूम नहीं। अतः मैंने सहजभाव से पूछा कि आप विनोबा जी के बारे में तो जानते ही होंगे। उन्होंने मेरी ओर थोड़ा नाराजगी से देखा, फिर कहा, "विनोबा जी की 'थोट्स ऑन एजुकेशन' पुस्तक में उनके जो विचार हैं, वह अगर, मैं पहले पढ़ लेता तो ये 'डि स्कूलिंग सोसायटी' पुस्तक लिखने की मुझे जरूरत ही नहीं रहती। मैंने उसमें जो कहा है, वह सब और उससे भी अधिक इस इन्सान ने तीस साल पहले कह दिया है!"

विनोबा जी से मैंने जो समझ पायी, उनके शिक्षा-विचार को मैं जैसा समझा हूँ, आपके सामने रखने की कोशिश करूँगा। विनोबा जी की शिक्षा की सबसे बड़ी व्याख्या है, आत्मज्ञान और सबसे छोटी व्याख्या है, सत्संग। तो, विनोबा का शिक्षा-विचार यहाँ से शुरू होता है कि मैं कौन हूँ, कैसा हूँ। शिक्षा विद्यार्थी केन्द्रित होनी चाहिए, शिक्षक केन्द्रित नहीं, अब यह विचार दुनिया-भर में सर्वस्वीकृत है। लेकिन वह शिक्षार्थी कौन है, उसका क्या परिचय है, इसके बारे में विनोबा जी का विचार ज्यादातर शिक्षाशास्त्रियों से भिन्न है। विनोबा जी कहते हैं कि सामने बैठा विद्यार्थी कोई खाली डिब्बा नहीं है, जिसके दिमाग में आप शिक्षा नाम की चीज भर दें। जिसको शिक्षा प्राप्त करनी है, वह तो पुराण-पुरुष है। अनेक जन्मों से शिक्षा लेते-लेते यहाँ तक पहुँचा है। उसके भीतर ज्ञानस्वरूप आत्मा विराजमान है। और उसे स्वयं



डॉ. अभय बंग

विनोबा जी की शिक्षा की सबसे बड़ी व्याख्या है, आत्मज्ञान और सबसे छोटी व्याख्या है, सत्संग। तो, विनोबा का शिक्षा-विचार यहाँ से शुरू होता है कि मैं कौन हूँ, कैसा हूँ। शिक्षा विद्यार्थी केन्द्रित होनी चाहिए, शिक्षक केन्द्रित नहीं, अब यह विचार दुनिया-भर में सर्वस्वीकृत है।

ईश्वर ने जन्म दिया है। अब आप ईश्वर से भी बड़े हो गये कि उसे गढ़ने की चेष्टा करोगे ?

इसके सम्बन्ध में विनोबा जी की 'ईशावास्य वृत्ति' पुस्तक में बहुत सुन्दर विवरण है। पूर्णाति पूर्ण उदच्यते-पूर्ण में से पूर्ण निष्पन्न होता है का अर्थ समझाते हुए वे बता रहे हैं कि उत् अच्यते यानी जो अन्दर है उसे बाहर प्रकट करना। फिर एक वाक्य कह देते हैं, यही शिक्षाशास्त्र है। तो शिक्षा का मतलब बाहर से अनेक जानकारियाँ विद्यार्थी के दिमाग में डालना नहीं, बल्कि भीतर जो अप्रकट रूप से पहले से ही है, उसे सिर्फ प्रकट होने में मदद करना, यह बहुत क्रान्तिकारी विचार है।

माइकल इंजेलो इटली के बहुत प्रसिद्ध शिल्पकार थे। वे बड़ी सुन्दर मूर्तियाँ बनाते थे। लोगों ने पूछा कि आप इतनी

**नई तालीम के लिए समझा जाता है कि जीवन के लिए शिक्षा, जीवन की शिक्षा, जीवन के द्वारा शिक्षा। अभी भी इसमें द्वैत है। जीवन अलग है, शिक्षा अलग है। विनोबा जी कहते हैं कि ये सब भेद मुझे नामंजूर हैं, 'जीवन की शिक्षा है'। मित्रों, जब यह वाक्य मैंने पहली बार पढ़ा तो रोमांच हो आया। मुझे लगा कि मैं शिक्षा के क्षेत्र का सबसे क्रान्तिकारी वाक्य पढ़ रहा हूँ। शिक्षा के क्षेत्र में यह महावाक्य बनना चाहिए। जीवन से अलग कोई शिक्षा न होती है, न हो सकती है। यह हम उद्धृत तो करते हैं, लेकिन दिक्कत है कि यह जीवन में धँसता नहीं।**

सुन्दर मूर्ति कैसे गढ़ लेते हैं? उन्होंने कहा कि मैं मूर्ति कहाँ गढ़ता हूँ? वह मूर्ति तो पहले से ही पत्थर में थी, मैंने तो सिर्फ पत्थर का फालतू हिस्सा हटा दिया तो मूर्ति प्रकट हो गयी!

तो विद्यार्थी को अपना परिचय पाने में, स्व-भान होने में मदद करना ही शिक्षक का काम है। अब यह स्व-भान कैसे हो? कहते हैं, सेल्फ इज लाइक अ रे - जो स्व होता है, वह किरण जैसी होती है। साइन्स में माना जाता है कि प्रकाश की किरण अदृश्य होती है; वह आपको दिखाई नहीं देती।

वह तब दिखाई देती है, जब वह किसी चीज से टकराती है। वैसे हमारा जो 'स्व' है वह शून्य में, अभाव में समझ में नहीं आता। वह तब प्रकट होता है जब मैं स्वधर्मरूप कर्तव्य-कर्म करता हूँ। कर्म करते-करते मुश्किल का जब मैं सामना करता हूँ तब मेरा रूप, मेरी शक्ति, मेरा स्व का मुझे पता

चलता है। स्वधर्मरूप कर्म करते हुए जो स्व मेरे सामने व्यक्त होता है, वही मेरी शिक्षा है। इसलिए शिक्षा दी नहीं जा सकती, बल्कि अन्दर से अंकुरित होती है और उस प्रक्रिया में शिक्षक केवल बाहर से मदद करता है। जैसे पौधे के अंकुरित होने में, इसके प्रफुल्लित होने में सीधा हम कुछ नहीं कर सकते। परन्तु बाहर से उसे खाद-पानी देना, निराई करना, प्रकाश की व्यवस्था आदि कर सकते हैं।

तीसरा सवाल जो मैंने खुद विनोबा जी को पूछा था कि स्वधर्म कहाँ खोजा जाये और वह कहाँ पर आचरण में लाया जाये? उस समय विनोबा जी ने जो जवाब दिया था, वह मुझे याद नहीं है, शायद वह अच्छी तरह से ग्रहण भी नहीं हुआ होगा। क्योंकि वह प्रश्न मेरा अपना नहीं था, वह बौद्धिक प्रश्न था। लेकिन बाद में जब यह प्रश्न बहुत ज्यादा तीव्रता से छटपटाहट के साथ उपस्थित हुआ, तब उसका जवाब मुझे गीता-प्रवचन में मिला। उसमें उन्होंने बताया है, जहाँ आप हैं, उसी स्थान में स्वधर्म का आचरण करना पड़ता है। आज की परिभाषा में कहें तो 'हियर एंड नाऊ'—यहीं और इसी क्षण। इसी को सबसे बड़ी आध्यात्मिक वृत्ति माननी चाहिए कि 'टू बी हियर एंड नाऊ' - मैं जहाँ भी हूँ और जिस क्षण हूँ, वहाँ के व्यक्ति, समाज, प्राणी, वनस्पति - सृष्टि यह मेरा स्वदेश है और वहाँ मेरा जो कर्तव्य है, वही मेरा स्वधर्म है। हमारी दिक्कत यह है कि जहाँ हम हैं, वहाँ नहीं होते, चित्त घूमता रहता है! वर्तमान क्षण में जीना जागृति का लक्षण है। इसी से स्व का भान होता है। चित्त को उसकी आदत डालनी चाहिए। यही शिक्षा है।

शिक्षा का दूसरा पहलू है, स्वावलम्बन। जहाँ नम्बर एक आर्थिक स्वावलम्बन नहीं है, वहाँ आप अपनी स्वतन्त्रता माँ-बाप, मालिक या सरकार के पास गिरवी रख देते हैं। अपने लिए आवश्यक अर्थार्जन कर लेना और उसके लिए किसी एक मूलभूत आवश्यकता का उत्पादन-कार्य करना शरीर-मन-बुद्धि, सभी अंगों के विकास के लिए बहुत जरूरी है। उसके द्वारा हम समाज के साथ जुड़ जाते हैं।

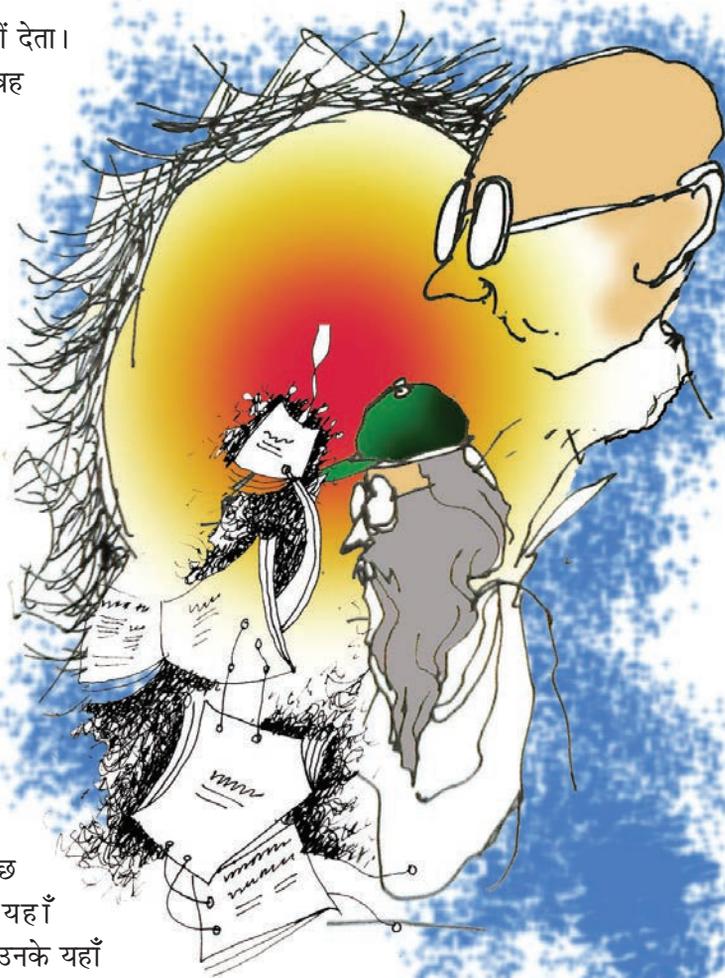
नम्बर दो में सीखने में, ज्ञान पाने में स्वावलम्बन, जिसे सेल्फ लर्निंग कहते हैं, अपने-आप सीख पाना। हमेशा ही मार्गदर्शक की जरूरत न रहे। अध्ययन, निरीक्षण, चिन्तन-मनन करके ज्ञान-वर्धन करते जाना।

केनेडा में मेकमास्टर यूनिवर्सिटी है। वहाँ पर मेडिकल शिक्षा का एक अलग मॉडल प्रयुक्त किया गया है। साधारणतः मेडिकल शिक्षा में प्रथम डेढ़ साल केवल मुर्दे की चीरफाड़

ही सिखाते हैं, जिन्दा मरीज दिखाई नहीं देता। मुर्दे फाड़ो और शरीर-रचना सीखो। वह समय मेडिकल शिक्षा का सबसे कष्टदायक काल होता है! जबकि मेकमास्टर मॉडल में मुर्दे फाड़ने के स्टेज को हटा दिया है। प्रथम बतायेंगे, एक डॉक्टर के रूप में मरीज के साथ कैसे बरताव करना। फिर तुरन्त रोगी देखने लगाना। मैंने पूछा, यह कैसे हो सकता है? विद्यार्थी को तो कुछ आता ही नहीं। उसको अभी पता ही कहाँ है, शरीर की रचना कैसी होती है? उन्होंने कहा कि ठीक है, वो पहले रोगी के पास जायेगा, जब रोगी कहेगा कि सिरदर्द है तो सिर क्या चीज है वह पढ़ना शुरू करेगा। दिमाग की रचना देखेगा, दर्द का कारण क्या है, दर्द कहाँ निर्माण होता है, यह सीख लेगा। जैसे-जैसे जरूरत पड़ेगी, वैसे-वैसे सीखते जायेगा। तीन साल में सब कुछ सीख जायेगा। इसलिए हमारे यहाँ एम.बी.बी.एस. साढ़े चार साल का है, उनके यहाँ तीन साल का।

मैं बड़ा अस्वस्थ हो गया, क्योंकि मैं मुर्दे फाड़ पद्धति से सीखा था। मैंने कहा कि मान लीजिये किसी रोगी के बाएँ पैर की छोटी उँगली के ऊपर एक ट्यूमर है, अगर ऐसा रोगी नहीं आया तो उसकी रचना वह सीखेगा ही नहीं? उन्होंने मुझे बड़ा सुन्दर जवाब दिया। उन्होंने कहा कि सात सौ बेड के अस्पताल में तीन साल में वैसा कोई मरीज आता ही नहीं है तो इसका मतलब है कि फिर उसको सीखने की जरूरत ही नहीं है। जिसकी जीवन में जरूरत ही नहीं पड़ती, उसको क्यों सिखायें?

उन्होंने कहा कि हमारी मेडिकल की जरूरत है कि जिसकी साक्षात् चैलेंज आ जाये, वही वह सीखेगा। जिसका चैलेंज आता ही नहीं, उसको सिखाने की जरूरत नहीं, वह तो किताबी ज्ञान है। लेकिन साथ ही हम उसे कैसे अपने से सीखा जाये, यह भी सिखा देते हैं। मान लें कल ऐसा कोई मरीज आ जाये तो वह खुद सीख लेगा। सेल्फ लर्निंग। यह बड़ा सुन्दर उदाहरण मुझे लगा कि स्वधर्म करते-करते जो



भी सीखने का मौका आता है, वह सीखते जाना। वैसे भी कुछ-न-कुछ अनपेक्षित तो जीवन में आने ही वाला है। कोई भी विद्यालय करने तक के हर प्रसंग की शिक्षा दे ही नहीं सकता। आपको अनपेक्षित को सीखना ही पड़ेगा, झेलना ही पड़ेगा। इसलिए शिक्षा का अर्थ यह नहीं है कि जीवन के हर चीज के लिए पहले ही सब तैयार कर लूँ। वह इतना ही है कि जीवन में कितना भी अनपेक्षित आ जाये, मैं उसका जवाब ढूँढ़ सकूँ, इसको कहेंगे, सेल्फ लर्निंग — शिक्षा में स्वावलम्बन।

इसके साथ शिक्षा का अत्यन्त महत्त्व का अंग है, स्व-अनुशासन। स्वराज का अर्थ ही गांधी ने बताया है, अपने पर नियन्त्रण। स्व-अनुशासन से समाज में सहयोग-सहकार्य उत्तम रीति से चलेगा। उसकी आदत मन को लगानी होगी।

विनोबा जी की उँगली पकड़-पकड़कर इस तरह मेरी नई तालीम की व्याख्या बनती चली। स्वदेश में स्वधर्म करते

हुए, स्वावलम्बन के साथ समाज में सहकार्य के जीते हुए जो मुझे मेरा परिचय प्राप्त होता है या जो आत्मा प्रकट होती है, उसको वे कहते हैं शिक्षा।

फिर सवाल आया कि उसके बीच यह शाला कहाँ से आ गयी? क्योंकि इसकी हर चीज में शाला एक अड़ंगा है। हर तरीके से आज की शाला हमें स्वधर्म से दूर रखती है। स्वधर्म का चेहरा, समाज का चेहरा, स्वावलम्बन का चेहरा नहीं देखने देती, वह स्वाध्याय की भी कला सिखाती नहीं है, वह कोचिंग क्लास पर निर्भरता सिखाती है। वह स्व-अनुशासन भी नहीं सिखाती तो स्वभाव कहाँ से पता चलेगा और आत्मज्ञान कहाँ से प्राप्त होगा? अतः आज का स्कूल, आज की शिक्षा हर अर्थ में शिक्षा की विरोधी है। फिर नई तालीम की शिक्षा का मॉडल क्या होगा? विनोबा जी ने एक जगह बहुत सुन्दर कहा है, उसको हम शब्द दें—‘गीता, उपनिषद् आदि मॉडल ऑफ एजुकेशन हैं। जो ऋषि लोग हैं, सज्जन, आचारवान लोग हैं, उनके पास जाकर बैठना, उनका जीवन देखना, सुनना और उससे सीखना, जिसे सादी भाषा में सत्संग कह सकते हैं। ये एक शिक्षा की पद्धति हुई।’

दूसरी पद्धति, जो स्वयं गीता की अपनी ही। गीता को हम ऐसे देखें कि वह एजुकेशनल सेशन था। वह शिक्षा की एक क्लास थी, जो ऐसी अद्भुत थी कि तीन हजार साल हुए, आज भी चल रही है! उसके तीन घटक हैं—एक तो है विद्यार्थी, अर्जुन। बहुत अद्भुत विद्यार्थी था। अर्जुन का मतलब विनोबा जी ने ही बताया है जो बहुत सीधा है, सरल है, ऋजु है और उसके मन में एक गम्भीर प्रश्न है। प्रश्न नहीं हो तो गीता प्रकट ही नहीं होती है। इसलिए नई तालीम के मॉडल में या गीता के मॉडल में एक ऐसा अर्जुन, जिसे गम्भीर प्रश्न उठा है। दूसरा कृष्ण, जो उत्तर देते हैं और वो योगेश्वर कृष्ण हैं, उनके जीवन में प्रत्यक्ष योग प्रकट हुआ है। ऐसे आचार्य यानी आचरणीय हैं, जिसका आचरण देखकर मैं सीख सकता हूँ और तीसरा कुरुक्षेत्र है। ये कुरुक्षेत्र भी गीता के एजुकेशन क्षेत्र का उतना ही महत्त्व का है, क्योंकि वहाँ पर स्वधर्म का मौका है। पूरी गीता सुनने के बाद अर्जुन को आत्मज्ञान हुआ कि नहीं, यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन कृष्ण ने आत्मज्ञान करवाने की कोशिश की। क्योंकि कुरुक्षेत्र में प्रश्न उठा। तो शिक्षा की कोई प्रक्रिया घटित होने के लिए एक कुरुक्षेत्र

लगता है। एक अर्जुन लगता है और एक गुरु लगता है, जो अपने जीवन द्वारा प्रत्यक्ष शिक्षा देता है। विनोबा जी ने आज की शिक्षा की अपने ‘शिक्षण-विचार’ पुस्तक में आलोचना की है। एक जगह तो बहुत मजेदार कमेंट करते हैं कि अर्जुन को कृष्ण ने पहले कोचिंग क्लास चलाकर कुरुक्षेत्र में नहीं ढकेला। वह तो जब कुरुक्षेत्र में मौका आया, चैलेंज आया तभी गीता प्रकट हुई। तो सोचें कि आज की शिक्षा का हर विद्यार्थी, अगर गीता मॉडल इस्तेमाल करे तो कितना अमर साहित्य पैदा होता!

नई तालीम के लिए समझा जाता है कि जीवन के लिए शिक्षा, जीवन की शिक्षा, जीवन के द्वारा शिक्षा। अभी भी इसमें द्वैत है। जीवन अलग है, शिक्षा अलग है। विनोबा जी कहते हैं कि ये सब भेद मुझे नामंजूर हैं, ‘जीवन की शिक्षा है’। मित्रों, जब यह वाक्य मैंने पहली बार पढ़ा तो रोमांच हो आया। मुझे लगा कि मैं शिक्षा के क्षेत्र का सबसे क्रान्तिकारी वाक्य पढ़ रहा हूँ। शिक्षा के क्षेत्र में यह महावाक्य बनना चाहिए। जीवन से अलग कोई शिक्षा न होती है, न हो सकती है। यह हम उद्धृत तो करते हैं, लेकिन दिक्कत है कि यह जीवन में धँसता नहीं। जब जीवन में ऐसा सवाल पैदा होगा और विनोबा का यह वाक्य पढ़ेंगे, तब समझेंगे कि जीवन ही शिक्षा है।

एक-दो उदाहरण मैं दे दूँ। क्योंकि विनोबा जी के कहने पर हम विश्वास नहीं रखेंगे। एक बात पूछूँ? आपमें से कितने लोग चलना जानते हैं? किस स्कूल में चलना सीखे? मातृभाषा किस स्कूल में पढ़े? घर में बोलना शुरू किये और बोलते-बोलते समझ आने के पहले ही बोलना सीख गये। बहनों ने रसोई कौन से कॉलेज में सीखी? किसान हल चलाता है, बहनें धान बोती हैं, काटती हैं, वे कहाँ सीखा? ये जीवन घटित हो रहा है और वहाँ करोड़ों लोग सीख रहे हैं। यह वाक्य सिर्फ आदर्श नहीं है, यह वास्तविकता है। यह पूरे संसार में घटित हो रहा है। विनोबा जी जब कहते हैं कि विश्वविद्यालय की कोई जरूरत ही नहीं है, तो उसका अर्थ यही है कि यह विश्व ही एक महान विद्यालय है। जहाँ आबाल-वृद्ध सभी जीवन से लेकर मृत्यु तक सीखते ही रहते हैं।

मित्र मिलन से साभार

## स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय : आम्बेडकर-गांधी विमर्श

यह लेख अरुन्धति रॉय के 'द डॉक्टर एंड द सेन्ट' का जवाब है। रॉय का यह लेख मार्च 2014 में बी. आर. आम्बेडकर की किताब 'अनिहिलेशन ऑफ कास्ट', जो कि 1936 में प्रकाशित हुई थी, की भूमिका के तौर पर लिखा गया था। लेकिन रॉय का यह लेख न केवल इस किताब के नए संस्करण की भूमिका है, बल्कि इसका परोक्ष सम्बन्ध आम्बेडकर और गांधी के बीच हुई ऐतिहासिक बहस से भी है। यह बहस एक खास दौर में हुई थी। मगर उस दौर का परिप्रेक्ष्य हमारी स्मृति से बड़ी साफगोई से मिटा दिया गया है।

1920 के दशक में दोनों नेताओं के बीच सकारात्मक सम्बन्ध थे। हालाँकि इन सम्बन्धों की प्रकृति व्यक्तिगत नहीं थी। न ही तब तक उन दोनों के बीच कोई मुलाकात ही हुई थी। बावजूद इसके, आम्बेडकर ने दलितों के प्रति गांधी की चिन्ताओं की सराहना की और उनके द्वारा ईजाद किये गये सत्याग्रह के तरीकों का स्वागत किया। लेकिन 1930 का दशक दोनों नेताओं के बीच तीखे बहस-मुबाहिसों का चश्मदीद बना जो कि एक इतिहासकार के दृष्टिकोण से काफी चौंकाने वाले थे।

उनकी आमने-सामने की पहली मुलाकात 1931 में मुम्बई में हुई थी, उनके बीच तीखी जुबानी मुठभेड़ों से ठीक पहले। 1931 की सर्दियों में लन्दन के जगमगाते इलाके में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने भारत का राजनीतिक भविष्य तय करने के लिए गोलमेज सम्मलेन बुलाया। यहीं से गांधी और आम्बेडकर के बीच जो बहस शुरू हुई, वे 1932 में पूना जेल की अँधेरी कोठरियों में भी जारी रहीं। अँग्रेजों ने गांधी को इसी जेल में कैद कर रखा था। यहाँ इस जेल में दोनों नेताओं के बीच एक सफल वार्ता सम्पन्न हुई। लेकिन 1930 के मध्य से सार्वजनिक तर्क-वितर्कों का एक नया दौर, मुख्यतः प्रेस के माध्यम से, फिर शुरू हो गया।

बहस-मुबाहिसे का यह सिलसिला गांधी के बार-बार जेल जाने से टूटता रहा। 1922 से 1924, 1932 से 1934, और फिर 1942 से 1944 तक गांधी साम्राज्यी सलाखों के पीछे रहे। इसके विपरीत, आम्बेडकर, जो सामाजिक न्याय की लड़ाई को देश की आजादी की लड़ाई से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण मानते थे, को अँग्रेजों ने कभी जेल में नहीं डाला। बल्कि 1942 से 1945 के बीच वे वायसराय की एग्जीक्यूटिव काउन्सिल में भी शामिल किये गये।

1945 की गर्मियों में आम्बेडकर ने अपनी किताब 'व्हॉट काँग्रेस एंड गांधी हैव डन टू द अनटचेबल्स' प्रकाशित की। इस किताब में गांधी और उनके नेतृत्व में चलाये जा रहे काँग्रेस आन्दोलन पर जबरदस्त हमला बोला गया था। 1944 के बाद से भारत के बैटवारे को रोकने की नाकामयाब कोशिशों में उलझे गांधी ने खुद इसका कोई जवाब नहीं दिया। लेकिन उन्होंने चक्रवर्ती राजगोपालाचारी द्वारा लिखे गये एक लघु निबन्ध



राजमोहन गांधी

असहयोग आन्दोलन छेड़ने के बाद, यंग इंडिया में उन्होंने अपने लेख के माध्यम से नवम्बर 1920 में कहा, 'हम तब तक स्वराज को हासिल करने के लायक नहीं होंगे जब तक हमने आबादी के पाँचवें हिस्से को बन्धक बनाकर रखा है'

‘आम्बेडकर रेफ्यूटेड’... को इसके जवाब के तौर पर सराहा। 1947 से 1951 के बीच आम्बेडकर और गांधी (जिनकी 1948 में हत्या कर दी गयी), नेहरू (जो आजाद भारत के पहले प्रधानमंत्री बने और 1964 तक जीवित रहे) तथा पटेल (जो कि आजाद भारत के उप-प्रधानमंत्री थे और जो 1950 के अन्त तक जिये) अप्रत्याशित और उल्लेखनीय रूप से एक दूसरे के करीब आये। इस करीबी के परिणाम के तौर पर आम्बेडकर न केवल आजाद भारत की पहली कैबिनेट में शामिल हुए बल्कि संविधान-निर्माण की प्रक्रिया का नेतृत्व भी किया, जो कि 1950 के संविधान के रूप में सामने आया। हालाँकि आम्बेडकर ने 1951 में कैबिनेट से इस्तीफा दे दिया। 1952 के चुनावों में और फिर 1954 के एक उप-चुनाव में वे कांग्रेस के खिलाफ लड़े। हालाँकि दोनों ही मौकों पर उन्हें हार का सामना करना पड़ा। 1956 में, अपनी मृत्यु के कुछ ही वक्त पहले, वह सैकड़ों हजार दलित साथियों के साथ हिन्दू धर्म छोड़कर बुद्ध की दृष्टि और आस्था की शरण में चले गये।

इस तरह, गांधी और आम्बेडकर की यह कहानी किसी भी लिहाज से एक दिलचस्प कहानी है। इस लेखक की तरह कई दूसरे लेखकों ने इसको अपनी तरह से देखा है (1995, 2006) और बहुतेरे भविष्य में देखेंगे। आम्बेडकर और गांधी के बीच की बहस इन दोनों नेताओं के आपसी सम्बन्धों का एक अनिवार्य हिस्सा है और यह अपने-आपमें अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय है।

आगे इस लेख में आम्बेडकर-गांधी विमर्श की विवेचना करना मेरा उद्देश्य नहीं है। इसके बावजूद, मैं उम्मीद करता हूँ, यह लेख इस विषय पर हमारी समझ को समृद्ध बनायेगा। साथ ही इस लेख में गांधी-आम्बेडकर सम्बन्धों की भी चर्चा होगी। हालाँकि गांधी-आम्बेडकर सम्बन्धों का विश्लेषण करना भी शायद ही इस लेख का मुख्य उद्देश्य है। इस तरह मैं इस लेख में गांधी या आम्बेडकर से जिरह करने की किसी भी ख्वाहिश को नकारता हूँ। हालाँकि मेरी एक इच्छा जरूर है, जिसे आप हौसला कह सकते हैं, वह है... अरुन्धति राँय के साथ जिरह करना।

जब मैंने राँय की ‘द डॉक्टर एंड द सेंट’ पढ़ी तो मुझे उसका मुख्य उद्देश्य समझने में काफी वक्त लगा। इस निबन्ध में उनका मुख्य उद्देश्य अनिहिलेशन ऑफ कास्ट की थीसिस पर चर्चा करना नहीं था; और निःसन्देह रूप से न ही गांधी-आम्बेडकर सम्बन्धों की व्याख्या करना। ‘द डॉक्टर एंड द सेंट’ का एकमात्र मन्तव्य महात्मा गांधी पर उग्र स्वर में अभियोग

लगाना है। इस तरह वो जगह-जगह यह संकेत देती हैं कि गांधी का विध्वंस ही उनका वास्तविक उद्देश्य है।

बहुतेरे दलित ‘द डॉक्टर एंड द सेंट’ को इसलिए खारिज नहीं करते कि इसमें दी गयी स्थापनाओं की डॉ. आम्बेडकर के साथ असहमतियाँ हैं। बल्कि काफी हद तक इसलिए करते हैं कि इसका तीन-चौथाई हिस्सा गांधी के बारे में है और सिर्फ एक-चौथाई आम्बेडकर के बारे में। दरअसल, राँय ने आम्बेडकर को केवल गांधी पर हमला बोलने के लिए उपयोग किया है। इसमें कुछ भी आपत्तिजनक नहीं है। उन्हें ऐसा करने का पूरा हक है। लेकिन ऐसा करने के पहले उन्हें अपने असल इरादे छुपाने नहीं चाहिए, बल्कि उन्हें खुलकर जाहिर कर देना चाहिए था।

हर कोई अरुन्धति राँय के हर एक अलोकप्रिय स्टैंड से सहमत नहीं हो सकता। लेकिन बहुत से लोग (इस लेखक की तरह) उनके एक या दो स्टैंड से सहमत हो भी सकते हैं। चूँकि कई अच्छे लोगों पर राँय की कही बात का गहरा असर होता है, मैंने सोचा कि उनके द्वारा गांधी पर किये गये हमले की खामियों को उजागर करना जरूरी है। ऐसा करने से पहले मुझे निश्चित रूप से यह स्वीकार करना चाहिए कि गांधी आलोचना से परे नहीं हैं। बल्कि कुछ उन बिन्दुओं पर भी गांधी की आलोचना की जा सकती है जिनकी तरफ अरुन्धति राँय ने इशारा किया है।

गांधी उच्च जाति के हिन्दुओं से लगातार छुआछूत और जातिगत श्रेष्ठता का दावा करने जैसे महान पापों का प्रायश्चित्त करने को कहते रहते थे। लेकिन उन्होंने दलित अधिकारों के लिए किसी सीधी लड़ाई को बमुश्किल कभी नेतृत्व प्रदान किया या उसको बढ़ावा दिया। या फिर यह कि उन्होंने भारत की आजादी के लिए बड़ी तादाद में सीधी लड़ाइयाँ लड़ीं या उनको प्रेरणा प्रदान की। अपने दक्षिण अफ्रीका प्रवास के दौरान वे भारतीयों के अधिकारों की लड़ाई लड़े। लेकिन सीधे तौर पर अश्वेतों के अधिकारों के लिए उन्होंने कोई लड़ाई नहीं लड़ी। ये ऐसे सत्य हैं जिन्हें खारिज नहीं किया जा सकता। इसलिए राँय को इन्हें दोहराने का पूरा अधिकार है भले ही यह सर्वविदित तथ्य हों।

कुछ और बातें भी हैं जिन्हें बेहिचक स्वीकार किया जाना चाहिए। राँय जो कुछ एकदम बेमतलब के हमले करती हैं, हो सकता है उसकी वजह जानकारी का अभाव हो। वे कभी भी गांधी की शोधक नहीं रही हैं। बावजूद इसके यह कहा जा सकता है कि लापरवाही के साथ तथ्यों को नजरअन्दाज करना ‘द डॉक्टर एंड द सेंट’ की सबसे गम्भीर कमजोरी है। इससे

पैदा हुई रिक्तियाँ पाठक को 1920 से लेकर 1940 तक भारत में चल रही आजादी की लड़ाई और सामाजिक न्याय के आन्दोलनों की एक-दूसरे से गुँथी हुई बुनावट को समझने से वंचित रखती हैं।

इस आधार पर मैं यह तर्क देना चाहता हूँ कि 'द डॉक्टर एंड द सेंट' में गांधी-आम्बेडकर सम्बन्धों का आख्यान, जिसमें संघर्ष और साझेदारी दोनों हैं, गम्भीर रूप से त्रुटिपूर्ण है। भले ही गांधी-आम्बेडकर सम्बन्धों की जाँच-पड़ताल अरुन्धति रॉय का केन्द्रीय उद्देश्य नहीं है, यह उसका सबसे मुखर हिस्सा तो है ही।

साथ ही मैं यह जरूर सिद्ध करना चाहूँगा कि रॉय के गांधी पर हमले ऐतिहासिक विवेचना के सामान्य सिद्धान्तों की अवहेलना करते हैं। इन सिद्धान्तों के अनुसार किसी भी व्यक्ति द्वारा दिये गये किसी वक्तव्य पर हमला उसके तत्कालीन सन्दर्भ के साथ किया जाना चाहिए। भले ही वह वक्तव्य किसी 'क' या 'ख' या एक महात्मा का 50 या 100 साल पहले दिया गया वक्तव्य ही क्यों न हो। दूसरी बात, इन मापदंडों की दरकार है कि उस वक्तव्य से जुड़े हुए दूसरे अनिवार्य तथ्य काटकर अलग नहीं कर दिये जाने चाहिए।

### तथ्यों की अनदेखी

आइये, 'द डॉक्टर एण्ड द सेंट' में लगाये गये इस आरोप पर सावधानीपूर्वक विचार करें। 'गांधी का, दोहरापन उनको बड़े उद्योगों का समर्थन करने और उनसे समर्थन पाने की अनुमति देता था' (पृष्ठ 49)। इस दावे को बल देने के लिए रॉय इसके अन्त में एक लम्बा कथन जोड़ती हैं। जिसमें वे दावा करती हैं कि गांधी का बड़े बाँधों को लेकर दृष्टिकोण उनकी 5 अप्रैल, 1924 को लिखी एक चिट्ठी से जाहिर होता है। इस चिट्ठी में वे मुलशी बाँध की वजह से विस्थापन झेल रहे आन्दोलनरत ग्रामीणों को विरोध छोड़ देने की सलाह देते हैं। उल्लेखनीय हैं कि यह बाँध टाटा द्वारा बिजली पैदा करने के लिए बनाया जा रहा था (पृष्ठ 151-52)।

इसके उलट सच्चाई क्या है? रॉय एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य को दरकिनार कर देती हैं, जो इसके तीन साल पहले का है। जब अप्रैल 1921 में विस्थापित ग्रामीणों ने पहली बार प्रस्तावित बाँध के खिलाफ अपना सत्याग्रह शुरू किया, गांधी



ने अपने जर्नल 'यंग इंडिया' में टाटा को एक तीखी मगर शिष्टतापूर्ण चुनौती दी—

मेरा विश्वास है कि टाटा का महान घराना, अपने दावे के कानूनी हकों पर आधारित होने के बावजूद, स्वतः ही लोगों के साथ मिलकर निर्णय लेगा और जो कुछ भी वे करना चाहते हैं उनसे सलाह-मशविरा करके ही करेगा... भला उन तमाम फायदों की क्या कीमत है जो कि टाटा की योजना के दावे के अनुरूप भारत को मिलेंगे, अगर यह एक भी गरीब आदमी की अनिच्छा की कीमत पर हो?

मुझे कहना होगा कि बीमारी और गरीबी की समस्याएँ आसानी से सुलझायी जा सकती हैं और जो लोग जीवित रहेंगे वे विलासिता में जियेंगे, अगर तीन करोड़ अधभूखे आदमी-औरत और लाखों बूढ़े मनुष्य मार दिये जायें और उनके शरीर खाद की तरह इस्तेमाल कर लिये जायें... लेकिन कोई पागल भी ऐसा सुझाव नहीं देगा। लेकिन क्या यह इससे कम होगा कि आदमी और औरतें अपनी कीमती जमीनों से अनिवार्य रूप से वंचित कर दिये जायें जिनके चारों तरफ, भावनाएँ, रोमांस और वह सब कुछ विकसित हुआ हो जिससे उनकी जिन्दगी जीने लायक होती है?

मैं महान नाम के संरक्षकों को सलाह देता हूँ कि वे भारत के हितों को सही मायनों में आगे बढ़ा पायेंगे अगर वे अपने कमजोर और असहाय देशवासियों की इच्छाओं का सम्मान करेंगे (गांधी वांग्मय 20: 40-41, 27 अप्रैल, 1921)।

टाटा अपील के बावजूद अपनी योजना पर आगे बढ़े। इस अपील के बमुश्किल एक साल के भीतर ही, गांधी को

जेल भेज दिया गया... मुलशी बाँध पर उनकी राय की वजह से नहीं, इंग्लैंड के राजा के खिलाफ राजद्रोह के आरोप में। जब तक वे रिहा होकर बाहर आये, आधा बाँध बनाया जा चुका था। जैसा कि गांधी ने चिट्ठी में लिखा था और जैसा कि रॉय खुद अपने कथन में उद्धृत भी करती हैं, विस्थापित ग्रामीणों का 'एक विशाल बहुमत' मुआवजे स्वीकार कर चुका था। सबसे बढ़कर, तब तक चल रहे सत्याग्रह के नेता गांधी के अनुसार अहिंसक आन्दोलन के लिए प्रतिबद्ध नहीं रह गये थे। यह सब कहते हुए ही गांधी ने सत्याग्रह वापस लेने की सलाह दी थी।

यह सलाह पर्याप्त रूप से किसानों की पक्षधर या बाँध-विरोधी थी या नहीं, यह एक वाजिब सवाल है। जिसका जवाब तमाम तरह से दिया जा सकता है। हालाँकि इसका सही जवाब पाने के लिए विश्वसनीय शोध की जरूरत होगी। इसके बावजूद, जिस अन्दाज में रॉय गांधी द्वारा मुलशी बाँध के सम्बन्ध में टाटा से की गयी जोरदार सार्वजनिक अपील को दबा ले जाती हैं, वह उनको एक निर्णायक के तौर पर अयोग्य बनाता है। उस पर से अपने आलेख में किसी दूसरी जगह पर रॉय का यह कहना कि गांधी टाटा के लिए नरम रुख रखते थे, हमें उन पर और भारी सन्देह करने के लिए मजबूर करता है।

रॉय उस समय के, और आज के भी, एक प्रतिष्ठित व्यापारिक घराने—बिरला घराने के घनश्यामदास बिरला, जो कि अक्सर गांधी की मेहमान-नवाजी करते थे, पर इसी तर्ज पर टिप्पणी करती हैं। रॉय कहती हैं कि 1915 में जब गांधी दक्षिण अफ्रीका से लौटे, बिरला ने 'कलकत्ता में एक भव्य स्वागत-समारोह आयोजित कराया... (वे, गांधी के मुख्य संरक्षक बन गये और उन्हें) गांधी को, उदार मासिक अनुदान दिये... बिरला के साथ गांधी की यह व्यवस्था ताउम्र बनी रही' (पृ. 88-89)। लेकिन रॉय अपने इस दावे के पक्ष में कोई स्रोत उपलब्ध नहीं करतीं।

यहाँ एक और वर्णन पेश है, जो खुद बिरला का है। जब गांधी 1915 में कलकत्ता आये, 21 साल के घनश्यामदास बिरला और कुछ अन्य लोगों ने मिलकर गांधी को स्टेशन से लाने के लिए भेजी गयी बग्घी के घोड़े खोल दिये और बग्घी को खुद खींचा। चार दशक बाद, गांधी की मृत्यु के उपरान्त, बिरला कलकत्ता के इस जलसे में गांधी से हुई पहली मुलाकात और बातचीत को इस तरह याद करते हैं :

मैंने उनको सूचित किया कि मैं... उनको मासिक चन्दा भेजा करूँगा... 'अच्छा है', उन्होंने (गांधी ने, कहा। देखिये)

इसके बाद, मैंने क्या किया... ये मेरा कितना बड़ा पागलपन था! मैंने कहा, 'अब तो बहुत अच्छा। मैं आपसे हर महीने एक चिट्ठी की उम्मीद करूँगा'। उन्होंने मुँहतोड़ जवाब देते हुए कहा, 'इसका मतलब मुझे हर महीने एक भीख का कटोरा लेकर तुम्हारे पास आना होगा?' मैं शर्म से पानी-पानी हो गया। मैंने गांधीजी से पूछा, 'अगर मैं आपको लिखूँ, तो क्या आप जवाब देंगे?' 'बेशक', उन्होंने कहा। केवल उनको परखने के लिए, उनके जाने के चार या पाँच दिन बाद मैंने उनको एक चिट्ठी लिखी। उन्होंने उस चिट्ठी का, एक पोस्टकार्ड पर जवाब दिया। (बिरला, एनडी)

हममें से कोई भी तय कर सकता है इनमें से कौन-सा वर्णन... रॉय का या बिरला का... सच है।

### महाड के दिलेर दलित

जानकारी का अभाव रॉय द्वारा 1927 के महाड सत्याग्रह पर गांधी की टिप्पणी को तकरीबन छुपा ले जाने की हरकत का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। यह आन्दोलन पश्चिमी महाराष्ट्र में आम्बेडकर के नेतृत्व में संचालित हुआ था। एक बड़ी तादाद में दलितों ने महाड के एक तालाब के पानी को इस्तेमाल करने पर लगी रोक को मानने से इनकार कर दिया। अपने सत्याग्रह के तहत वे एकजुट होकर आगे बढ़े और तालाब का पानी पिया। उसके बाद, रूढ़िवादी तबके के गुस्साए लोगों ने उन पर डंडों और गदाओं से हमले किये।

आम्बेडकर, जो कि महाड में खुद मौजूद थे, ने बुद्धिमानी से अपने लोगों से जवाबी हिंसा न करने की अपील की। जैसा कि रॉय खुद कबूल करती हैं (पृ. 107), गांधी ने 'हमले के वक्त 'दलितों के मानसिक सन्तुलन' की तारीफ' लिखकर की। हालाँकि गांधी ने 'यंग इंडिया' के उस लेख में जितना हिस्सा रॉय ने उद्धृत किया है उससे कहीं कुछ ज्यादा लिखा था। इसलिए यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने गांधी के इस लेख को पढ़ा जरूर है।

दलितों के 'अनुकरणीय आत्म-नियन्त्रण' की तारीफ करते हुए गांधी ने लिखा कि 'तथाकथित रूढ़िवादी दल' ने सरासर पशुवत बल का प्रयोग किया और उसके पक्ष में वे कोई सफाई नहीं दे सकते। इससे बढ़कर गांधी ने 28 अप्रैल, 1927 के 'यंग इंडिया' में लिखा :

डॉ. आम्बेडकर इस मायने में बिल्कुल ठीक थे कि उन्होंने बम्बई लेजिस्लेटिव कौंसिल और महाड नगरपालिका के प्रस्तावों को यह कहकर परखा कि तथाकथित अछूत तालाब पर जायें और अपनी प्यास बुझायें।

महात्मा ने छुआछूत का विरोध करने वाले हर हिन्दू से महाड के दिलेर दलितों का बचाव करने की सलाह दी, 'भले ही' इस कोशिश में 'सर फोड़ दिये जाने का जोखिम हो' (गांधी वांगमय 33: 368)।

एक बार फिर रॉय एक क्रान्तिकारी टिप्पणी को जान-बूझकर छिपा ले जाती हैं।

यह 'द डॉक्टर एंड द सेंट' में गांधी और दलित अधिकारों के बारे में महत्वपूर्ण तथ्य छुपाने के कई उदाहरणों में से कुछ एक उदाहरण थे। यहाँ इस तरह का एक और उदाहरण प्रस्तुत है।

रॉय (पृ. 123) भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के 1931 के कराची प्रस्ताव को एक 'बहुमूल्य, प्रबुद्ध दस्तावेज' के तौर पर स्वीकारती हैं। यह प्रस्ताव सबको समान अधिकार सुनिश्चित करता था, जो कि 1950 के संविधान की समानता की शपथ का अग्रगामी बना। लेकिन वे उसका मसौदा तैयार करने में गांधी की महती भूमिका का उल्लेख करने से परहेज करती हैं।

यहाँ एक और उदाहरण पेश है। रॉय 'जाति-विरोधी परम्परा के प्रिय भक्त कवियों'... 'चोखामेला, रविदास, कबीर, तुकाराम, मीरा, जनाबाई' (पृ. 37) का नाम लेती हैं। (हालाँकि महार कवि चोखामेला के नाम की उनकी वर्तनी गलत है।) लेकिन वह अपने पाठकों को यह नहीं बताती कि इनमें से कई भक्त कवि गांधी के भी प्रिय कवियों में थे। या फिर यह कि इनके गीत उनके आश्रमों और प्रार्थना सभाओं में भी खूब गाये जाते थे।

## छुआछूत का पाप

गांधी की मृत्यु के वक्त तक, भारत जाति-ग्रस्त बना रहा और दलितों के साथ बुरा व्यवहार जारी रहा। उसके बाद भी अगले कई दशकों तक भारतीय समाज में क्रान्तिकारी ढंग से बदलाव नहीं हुआ। लेकिन जितना भी बदलाव हुआ, गांधी के शब्दों और कामों ने उसमें योगदान किया।

दक्षिण अफ्रीका में युवा गांधी ने भारतीयों के साथ भेदभाव को भारत में छुआछूत के प्रतिफल के रूप में व्याख्यायित किया। गांधी ने मई 1907 में इंडियन ओपिनियन में लिखे एक लेख में 'छुआछूत के बुरे अन्धविश्वासों' की चर्चा की और यह भी जिक्र किया कि कैसे 'भारत में हममें से कुछ लोग भंगियों पर अत्याचार करते हैं और उन्हें मजबूर करते हैं... गुलामाना भाषा बोलने के लिए (गांधी वांगमय 7: 470)। जब सत्याग्रह की वजह से कई भारतीय जेल गये और कई लोगों ने दलितों के साथ खाना खाने और उनके करीब सोने से

इनकार किया, गांधी ने उन लोगों को फटकार लगायी (गांधी वांगमय : 9: 181)।

गांधी के भारत लौटने के लगभग एक साल बाद 16 फरवरी, 1916 को गांधी ने छुआछूत के बारे में मद्रास में एक सार्वजनिक सभा में कहा, 'इस पवित्र भूमि में हम जो भी दुःख भोग रहे हैं वह हमारे इस अमित महा-अपराध का सटीक और उचित दंड है, जो हम कर रहे हैं' (सीडब्लू : 13: 232-33)। जब

रूढ़िवादियों ने उन पर हमला बोला, गांधी ने नवम्बर 1917 में गोधरा (गुजरात) में उसका जवाब इस तरह दिया, 'मुझे अपना खुद का गुरु बने रहना चाहिए... इस रूढ़िवादिता के जवाब में मनुस्मृति और दूसरे शास्त्रों से श्लोक उद्धृत करने का कोई मतलब नहीं है। बहुतेरे श्लोक अप्रामाणिक हैं और उनमें से तमाम तो कतई बेमतलब हैं' (सीडब्लू 14: 73-77)।

उन्होंने अपने मत को दोहराया कि शास्त्रों से उद्धृत श्लोक एक व्यक्ति के अन्तःकरण की आवाज को कुचल नहीं सकते। उन्होंने आगे कहा कि शास्त्रों के श्लोक 'तर्क और नैतिकता से परे नहीं हो सकते' (सीडब्लू 14: 345)।

एक साल बाद, अप्रैल 1918 में, गुजराती कविताओं की एक किताब की भूमिका में लेखक पंडियर ने दलितों पर हो रहे क्रूर व्यवहार का वर्णन किया। गांधी ने कहा कि ये कविताएँ 'लाखों आदमियों और औरतों को उसी तरह सुनायी जानी चाहिए जैसे कि भगवद्गीता जैसे ग्रन्थ चौराहे-चौराहे पर उनको सुनाये गये हैं' (सीडब्लू 14: 344-45)।

दो साल बाद, असहयोग आन्दोलन छेड़ने के बाद, यंग इंडिया में उन्होंने अपने लेख के माध्यम से नवम्बर 1920 में कहा, 'हम तब तक स्वराज को हासिल करने के लायक नहीं होंगे जब तक हमने आबादी के पाँचवें हिस्से को बन्धक बनाकर रखा है' (सीडब्लू 19: 20)। 1920 का साल खत्म होते-होते गांधी ने यह सुनिश्चित कर लिया कि छुआछूत का उन्मूलन इंडियन नेशनल काँग्रेस के राजनीतिक कार्यक्रम का

**मैंने यह काम दक्षिण अफ्रीका में शुरू किया था... उसके पहले, जब मैंने तुम्हारा नाम भी नहीं सुना था और मैं जब तक दक्षिण अफ्रीका में ईसाई प्रभाव में आया उससे पहले ही छुआछूत के पाप के बारे में जागरूक हो चुका था। यह सत्य तब उजागर हो गया था जब मैं एक बच्चा ही था। जब मेरी माँ मुझे और मेरे भाइयों को किसी परियाह को छूने पर नहलाती थी, मैं उन पर हँसा करता था।**

अभिन्न हिस्सा होगा। यह इसके पहले सम्भव नहीं हुआ था और आम्बेडकर ने इसके पीछे गांधी की भूमिका को गांधी के खिलाफ लिखी 1945 की अपनी किताब में स्वीकार किया था।

स्वराज के लिए 1920 में छेड़े गये असहयोग आन्दोलन के बाद राष्ट्रीय स्कूल खोले गये थे। इन स्कूलों से दलितों को दूर रखने की माँग टुकराने पर गांधी के रूढ़िवादी शत्रुओं ने उन पर हिंसक भाषा में हमला बोला। इन लोगों ने प्रेस के माध्यम से, अखबारों में, कानाफूसी के अभियान के मार्फत गांधी को चेताया कि अगर जब तक दलित इन स्कूलों से बाहर नहीं किये जाते, वे ब्रिटिश राज को समर्थन देंगे और इस तरह स्वराज आन्दोलन की हत्या कर देंगे। उन्होंने आरोप लगाया कि गांधी ने दलितों के मामले में दिलचस्पी अपने ईसाई दोस्तों से उधार ली है, खासतौर पर श्रद्धेय चार्ल्स एण्ड्रूज से।

गांधी की प्रतिक्रिया दोहरी थी। अपने गुजराती साप्ताहिक 'नवजीवन' में 5 दिसम्बर, 1920 को उन्होंने विश्वास जताया कि 'ईश्वर मुझे उस स्वराज को टुकराने की शक्ति देने की कृपा करेगा जो कि अन्त्यज लोगों के परित्याग से हासिल होगी'। (गांधी वांग्मय 19: 73) (इस वक्त तक बहुत से लोग दलितों के लिए अन्त्यज शब्द का प्रयोग करते थे।)

दूसरा, गांधी ने एण्ड्रूज को लिखते हुए सार्वजनिक भाषणों में छुआछूत के खिलाफ अपनी मुहिम की शुरुआत को याद किया। एण्ड्रूज को लिखे 29 जनवरी, 1921 के एक पत्र में उन्होंने कहा :

मैंने यह काम दक्षिण अफ्रीका में शुरू किया था... उसके पहले, जब मैंने तुम्हारा नाम भी नहीं सुना था और मैं जब तक दक्षिण अफ्रीका में ईसाई प्रभाव में आया उससे पहले ही छुआछूत के पाप के बारे में जागरूक हो चुका था। यह सत्य तब उजागर हो गया था जब मैं एक बच्चा ही था। जब मेरी माँ मुझे और मेरे भाइयों को किसी परियाह को छूने पर नहलाती थी, मैं उन पर हँसा करता था। यह 1887 की बात है जब मैंने डरबन में श्रीमती गांधी को घर से निकालने की ठान ली थी, क्योंकि वे लॉरेन्स, जिसे वे जानती थीं कि वे परियाह है, के साथ समानता का बर्ताव नहीं करती थीं और जिसे मैंने अपने साथ रहने के लिए आमन्त्रित किया था।

एण्ड्रूज ने गांधी के छुआछूत विरोधी अभियान पर लगातार और पूरी ताकत से जुट जाने के लिए उत्सुकता जतायी थी। गांधी ने उसी पत्र में यह जोड़ा :

तुम मेरे साथ अन्याय कर रहे हो अगर तुम खुद को एक

क्षण के लिए भी यह सोचने देते हो कि मैं छुआछूत के मुद्दे को किसी अन्य मुद्दे के अधीन कर सकता हूँ... यह भारत की आजादी से कहीं बड़ी समस्या है, लेकिन मैं इससे ठीक ढंग से निपट सकता हूँ अगर मैं दूसरी को रास्ते में हासिल कर लूँ (गांधी वांग्मय : 19 : 288-90, जोर आपका)।

तकरीबन तीन महीने बाद 13 अप्रैल, 1921 को गांधी ने अहमदाबाद में दलित वर्ग सम्मलेन को सम्बोधित किया। उन्होंने कहा :

मैं बमुश्किल 12 साल का था जब यह विचार मेरे भीतर जागा। ऊका नाम का एक मेहतर, एक 'अछूत', हमारे घरों में पाखाना साफ करने आता था। मैं अक्सर अपनी माँ से पूछता था... हमें उसे छूने से क्यों रोका जाता है? अगर मैं धोखे से ऊका को छू लेता था, मुझे स्नान करने को कहा जाता था। हालाँकि मैं स्वाभाविक रूप से आज्ञा का पालन करता था, यह एक मुस्कराते विरोध के बिना नहीं होता था। मेरा अक्सर मेरे माता-पिता के साथ इस मुद्दे पर संघर्ष होता था। मैंने अपनी माँ से कहा कि वे एकदम गलत हैं जो ऊका से साथ किसी भी शारीरिक स्पर्श को पाप मानती थीं (गांधी वांग्मय 19 : 572)।

ठीक दो साल पहले ब्रिगेडियर जनरल रेजीनॉल्ड डायर और गवर्नर माइकल ओ'डायर के हाथों जालियाँवाला बाग नरसंहार हुआ था। दलित वर्ग सम्मलेन में इस नरसंहार को याद करते हुए उन्होंने कहा :

जिन गुनाहों के लिए हम सरकार की भर्त्सना उसे शैतान कहकर करते हैं क्या हम ठीक वैसे ही गुनहगार अपने 'अछूत' भाइयों के प्रति नहीं हैं? हमने उन्हें पेट के बल रेंगने पर मजबूर किया, हमने उन्हें जमीन पर नाक रगड़ने पर मजबूर किया, गुस्से से तमतमायी लाल आँखों से हमने उन्हें रेल के डिब्बों से धक्के दिये... क्या ब्रिटिश राज ने इससे कुछ ज्यादा किया है? हम डायर और ओ'डायर के खिलाफ जो आरोप लगाते हैं क्या हमारे अपने लोग हम पर वही तोहमत नहीं लगा सकते? (गांधी वांग्मय 19 : 572)

रॉय अपने पाठकों को ऊपर के पैराग्राफ में लिखी कोई भी बात जानने की अनुमति नहीं देती। हालाँकि यह भी सच है कि छुआछूत के खिलाफ लड़ाई 1920 के दशक में गति नहीं पकड़ सकी। आम्बेडकर इस बात को उचित ही रेखांकित करते हैं। ऐसा काफी हद तक भारतीय समाज की जड़ता की वजह से हुआ और इसलिए भी कि गांधी और उनके साथियों के सामने स्वराज और हिन्दू-मुस्लिम एकता जैसे कुछ अन्य कठिन लक्ष्य थे, जिन्हें वे हासिल करने की कोशिश कर रहे थे।

## पृथक दलित निर्वाचक मंडल

2 अगस्त, 1931 को गोलमेज सम्मलेन के लिए लन्दन जाने के ठीक पहले गांधी ने अहमदाबाद में एक महत्वपूर्ण वक्तव्य दिया था। यह लगभग वही समय था जब वे और आम्बेडकर, जो कि खुद लन्दन जा रहे थे, पहली बार मुम्बई में मिले थे। गांधी ने कहा :

अगर हम छुआछूत के दाग के बने रहते सत्ता में आ गये, मुझे यकीन है 'अछूतों' की हालत स्वराज के भीतर आज से बदतर हो जायेगी, इसकी सीधी-सी वजह है कि हमारी कमजोरियाँ और नाकामियाँ तब सत्ता को हासिल करके मजबूत हो जायेंगी (प्यारेलाल 1932 : 303)।

यहाँ गांधी स्वीकार कर रहे हैं कि स्वराज भारत की ऊँची जातियों को राजनीतिक सत्ता भी दे देगा जो पहले से ही सामाजिक और आर्थिक सत्ता का सुख भोग रहे हैं और इसलिए यह दलितों की हालत और 'बदतर' कर देगा। चूँकि स्वराज का लक्ष्य स्थगित नहीं किया जा सकता था, गांधी के मुताबिक इसका निदान स्वराज की लड़ाई के साथ-साथ छुआछूत पर हमला करना था।

लन्दन की कॉन्फ्रेंस में गांधी और आम्बेडकर के बीच पृथक बनाम संयुक्त निर्वाचक मंडल के मुद्दे पर प्रसिद्ध झड़प हुई। अगर राज सिखों, मुसलमानों और भारत के यूरोपियों को पृथक निर्वाचक मंडल दे सकता था, तो फिर दलितों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल क्यों नहीं? गांधी ने एक उलटा सवाल दागते हुए जवाब दिया था... 'सिख अनन्त काल तक जस-के-तस सिख बने रह सकते हैं, उसी तरह मुसलमान, उसी तरह यूरोपियन। क्या अछूत उसी तरह हमेशा के लिए अछूत बने रह सकते हैं?' (गांधी वांग्मय 48 : 298)।

लेकिन गांधी की कुछ और गहरी चिन्ताएँ थीं जो कि एक दिल दुखाने वाला यथार्थ था। इस यथार्थ को गांधी ने 31 अक्टूबर, 1931 को इयूस्टन के क्वेकर सेंटर, फ्रेंड्स हाउस, लन्दन में कुछ इस तरह बयान किया :

अछूत उच्च वर्गों के कब्जे में हैं, जो कि उन्हें पूरी तरह से कुचल सकते हैं और अछूत, जो कि उनकी दया पर निर्भर हैं, को बदले की भावना से बर्बाद कर सकते हैं। मैं शायद अपनी शर्म आपके सामने जाहिर कर रहा हूँ। लेकिन... मैं उनके चरम विनाश को निमन्त्रण कैसे दे सकता हूँ? मैं इस जुर्म का दोषी नहीं बनूँगा (गांधी वांग्मय 48 : 258)।

गांधी ने गोलमेज सम्मलेन की अल्पसंख्यक समिति के सामने कहा कि 'वे भारत की आजादी की कीमत पर भी

अछूतों के हितों को बेचने को कतई तैयार नहीं हैं।' उन्होंने दावा किया (13 नवम्बर, 1931 को) कि जो लोग पृथक निर्वाचक मण्डल की माँग कर रहे हैं 'वो अपना भारत नहीं जानते, नहीं जानते कि आज का भारतीय समाज किस तरह संघटित है' (गांधी वांग्मय 48 : 297-98)।

हालाँकि रॉय ने लन्दन में गांधी-आम्बेडकर बहस पर कई पन्ने समर्पित किये हैं, वे बड़ी सावधानी से उन सन्दर्भों और वाक्यों को मिटा देती हैं जो कि मैंने उद्धृत किये हैं।

आम्बेडकर की दलितों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की माँग को गोलमेज सम्मलेन के कई प्रतिनिधियों का समर्थन हासिल था, जिनमें से ज्यादातर राज द्वारा मनोनीत किये गये थे। राज ने साफ इशारा कर दिया था कि पृथक निर्वाचक मंडल लागू किये जा सकते थे। इसके विपरीत गांधी ने घोषित कर दिया था कि अगर जरूरत पड़ी तो वे इसके खिलाफ आमरण अनशन करेंगे।

## चयनात्मक और पूर्वाग्रह-ग्रसित

'द डॉक्टर एंड द सेंट' का एक बड़ा हिस्सा गांधी के दक्षिण अफ्रीकी प्रवास के दौरान अश्वेत दक्षिण अफ्रीकी लोगों के प्रति कुछ समय के लिए निस्सन्देह रूप से उनकी खेदजनक अज्ञानता और श्रेष्ठता-भाव, जिसकी अक्सर चर्चा की जाती है, को समर्पित है। हालाँकि, यहाँ भी रॉय बड़े ध्यान से अपने तथ्य चुनती हैं। इस तरह वो 1908 के एक मशहूर भाषण को पूरी तरह नजरअन्दाज कर देती हैं जो गांधी ने इस मुद्दे पर जोहानिसबर्ग में तब दिया था जब वे ब्रिटिश साम्राज्य से बड़ी उम्मीदें रखते थे :

मुझे लगता है कि एशियाई और अफ्रीकन दोनों ने साम्राज्य को समग्र रूप से आगे बढ़ाया है, हम अफ्रीकी जातियों के बगैर दक्षिण अफ्रीका की कल्पना भी नहीं कर सकते... दक्षिण अफ्रीका अफ्रीकी जातियों के बगैर शायद एक जंगली इलाका होगा... वे (अफ्रीकी जातियाँ) अभी भी इतिहास की दुनिया में सीख रहे हैं। शारीरिक रूप से सक्षम और बुद्धिमान जैसे कि ये लोग हैं वे हर हाल में साम्राज्य के लिए सम्पत्ति हैं।

साम्राज्य का वफादार होना मेरे लिए अच्छा है, लेकिन मैं प्रजा का सदस्य होने के नाते यह उम्मीद नहीं कर रहा हूँ।

अगर हम भविष्य की ओर देख रहे हैं तो क्या यह एक विरासत नहीं है जिसे हम भावी पीढ़ियों के लिए छोड़ रहे हैं कि अलग-अलग जातियाँ एक-दूसरे से मिलती हैं और एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करती हैं जो अब तक दुनिया ने नहीं देखी है (गांधी वांग्मय 8 : 242-46)।

यह उस विख्यात भाषण का अंश है जो जोहानिसबर्ग के वाईएमसीए में दिया गया था। जिसे 'इंडियन ओपिनियन' के दो अंकों में (6 और 13 जून, 1908) में भी प्रकाशित किया गया था। यहाँ तक कि बाद में कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी (गांधी वांग्मय) में भी यह शामिल है और एक से ज्यादा आधुनिक अध्ययनों में इस भाषण की चर्चा हुई है। मगर रॉय या तो इसके बारे में अनभिज्ञ हैं (इतने गहन शोध के बावजूद) या वह दूसरों को इसे पढ़ने नहीं देना चाहतीं। हालाँकि आज के मापदंडों से यह बमुश्किल क्रान्तिकारी है, लेकिन यह भाषण उस समय से बहुत आगे है जिस समय यह दिया गया था। दक्षिण अफ्रीका या भारत में बहुत कम भारतीयों ने 1908 में या उसके बाद 'विभिन्न जातियों' के 'सम्मिश्रण' की बात की थी। वास्तव में, पूरी दुनिया में बहुत कम लोगों ने, यहाँ तक की आज भी।

गांधीजी के उस वक्त के पूर्वाग्रहों को (जो उनके लगभग सभी समकालीनों में पाये जाते थे) खुले दिल से स्वीकार किया जाना चाहिए। लेकिन सवाल यह है कि रॉय उनके खाता-बही के उस अनुकूल पक्ष को क्यों छुपा ले जाती हैं जो अपने समय में दुर्लभ था?

जैसी कि उम्मीद की जा सकती है, रॉय गांधी की जॉन ड्युब के साथ दोस्ती को भी नजरअन्दाज कर देती हैं। जॉन ड्युब अफ्रीकन नेशनल काँग्रेस के संस्थापक सदस्यों में एक थे और जिनके बारे में खूब दस्तावेज मौजूद हैं। डरबन में इनका केन्द्र फीनिक्स से बहुत दूर नहीं था, जहाँ गांधी ने अपना पहला आश्रम बनाया था। गांधी की तरह ड्युब भी 1906 के जुलु विद्रोह का समर्थन करने से हिचकिचाये थे और उन्होंने कहा था कि 'हमें... विद्रोह के दमन में सरकार की मदद करनी चाहिए' (रेड्डी में उद्धृत 1995 : 21)।

वीरतापूर्ण पर साथ ही कारुणिक यह विद्रोह भारत के 1857 के विद्रोह से काफी समानताएँ रखता था। 1857 के विद्रोह से बंकिमचन्द्र चटर्जी, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और सैयद अहमद खान जैसे समकालीनों ने दूरी बनाकर रखी थी और एक अन्य समकालीन ज्योतिबा फुले ने इसका खुलकर विरोध किया था।

रॉय गांधी के कथित तौर पर अश्वेतों के प्रति 'तिरस्कार' (पृ. 83) की बात करती हैं, लेकिन यह नहीं कह पाती हैं कि गांधी की ये आक्रामक टिप्पणियाँ गम्भीर अपराधों में बन्द अश्वेत कैदियों के चौंकाने वाले आचरण की वजह से भड़की थीं, जो उनके साथ जेल की कोठरी में बन्द थे।

दक्षिण अफ्रीकी अश्वेतों के लिए गांधी का रुख

परिस्थितियों और पूर्वाग्रहों से प्रभावित था और साथ ही उस समय के समीकरणों से भी। चूँकि अश्वेत दक्षिण अफ्रीका के राजनीतिक और सामाजिक सोपान में सबसे निचले पायदान पर थे, अँग्रेजों के साथ भारतीयों की समानता की लड़ाई में अनिवार्य रूप से, हालाँकि अफसोसजनक रूप से भी, भारतीयों को अश्वेतों से अलग करना एक जरूरत थी। लेकिन इस मामले को देखने का यह नजरिया रॉय के लिए किसी दिलचस्पी का नहीं है।

नेल्सन मंडेला, रॉय जिनकी तारीफ करने का दम भरती हैं, 1995 के एक प्रकाशन में लिखते हैं... 'गांधी को शुरुआत में यह जानकार धक्का लगा कि जेल में भारतीयों को नेटिव लोगों के साथ वर्गीकृत किया गया था... कुल मिलाकर, गांधी को इन पूर्वाग्रहों के लिए समय के सन्दर्भ और परिस्थितियों के मद्देनजर जरूर माफ कर दिया जाना चाहिए।'

'समय का सन्दर्भ' दरअसल वह चीज है जिसे रॉय काटकर अलग कर देती हैं। इस तरह, अपरिपक्व अफ्रीकन-भारतीय गठबन्धन के प्रति गांधी की सावधानी को वह हद से ज्यादा तवज्जो देती हैं और ताना मारती हैं (पृ. 74-75)। मगर, उनके पाठकों को यह जानना चाहिए कि 1913 में ड्युब, जो कि अफ्रीकन नेशनल काँग्रेस के पहले अध्यक्ष थे, भी सोचते थे कि गांधी के नेतृत्व में चल रहे भारतीयों की तर्ज पर अश्वेत प्रतिरोध विफल हो जायेगा। उनका मानना था कि अश्वेत लोग भड़काऊ परिस्थितियों में आत्मसंयम खो देंगे और फिर श्वेत प्रतिहिंसा बहुत विनाशकारी होगी (पटेल में उद्धृत 1989 : 216-17)। अफ्रीकन नेशनल काँग्रेस के एक अन्य संस्थापक सदस्य सेल्बी सिमांग, जिनका 1976 में साक्षात्कार लिया गया था, भी यह सोचते थे कि गांधी के समय का अफ्रीकन नेतृत्व 'किसी भी हाल में, भारतीय राजनीति को किसी भी गठजोड़ के समर्थन के लिए बहुत उग्र मानता था' (स्वान 1985 : 133)।

यद्यपि इस तरह की स्वीकारोक्तियाँ, रॉय जो चित्र खींचना चाहती हैं उसे झुठला देती हैं।

पूना की यरवदा जेल में, जहाँ गांधी 1922 से 1924 तक कैद थे, उन्होंने अदन नामक एक कैदी से दोस्ती की। अदन एक सोमाली कैदी थे जिन्हें जेल प्रशासन ने सन्तरी बनाया था। अदन के साथ जुड़ी एक घटना को गांधी के जेल में साथी रहे और अक्सर उनकी आलोचना करने वाले इन्दुलाल यागिनिक ने 1943 में लिखी अपनी किताब 'गांधी ऐज आई न्यू हिम' में इस तरह बखान किया है :

एक शाम हमारे सोमालियाई नीग्रो वार्डर की बाँह में बिच्छू ने काट लिया। वे जोर से चीखे। मि. गांधी तुरन्त मौके

पर पहुँच गये... उन्होंने पहले तो घाव को काटने और जहर को निकालने के लिए चाकू माँगा। लेकिन उन्हें चाकू गन्दा लगा। इसलिए एक क्षण की देरी किये बिना उन्होंने तुरन्त घाव के आस-पास के हिस्से को धोया और घाव पर अपने होंठ लगाकर जहर को चूसकर बाहर निकालना शुरू कर दिया। वो चूस-चूसकर थूकते रहे और अन्ततः तब रुके जब अदन को राहत मिल गयी (याग्निक 1943 : 303)।

क्या यह उस व्यक्ति की प्रतिक्रिया थी जो अश्वेतों से 'नफरत' करता था? रॉय न तो खुद यह सवाल पूछेंगी, न ही अपने पाठकों को यह जानने देंगी कि गांधी ने यह प्रतिक्रिया दी। वह गांधी की अश्वेत अधिकारों पर खुलकर लिखने की बढ़ती हुई इच्छा को भी दबा देंगी या कम करके आँकेगी।

22 जुलाई, 1926 को गांधी ने यंग इंडिया में घोषित किया कि वह नहीं समझते कि 'दक्षिण अफ्रीका में, भारतीयों के साथ कोई न्याय हो सकता है अगर वह न्याय, उस मिट्टी के स्थानीय लोगों को प्राप्त नहीं है' (गांधी वांगमय 31 : 181-82)। दो साल बाद जब दक्षिण अफ्रीका में कुछ भारतीयों ने भारतीय छात्रों को फोर्ट हेयर कॉलेज, जो कि अफ्रीकी लोगों के लिए बनाया गया था, भेजने पर ऐतराज जताया, तो गांधी ने 5 अप्रैल, 1928 के यंग इंडिया में इस प्रतिक्रिया की तुलना उस प्रतिक्रिया से की 'जो कि दक्षिण अफ्रीकी श्वेतों ने हमारे मामले में जाहिर की है।' उन्होंने जोर देकर कहा, 'भारतीय... अफ्रीका में वहाँ के लोगों की सक्रिय सहानुभूति और दोस्ती के बिना हरगिज नहीं रह सकते' (गांधी वांगमय 36 : 190)।

1939 में, उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के एक आगन्तुक अश्वेत नेता, श्रद्धेय एस. एस. तेमाए से कहा कि अफ्रीकी 'धरती के लाल हैं जिनकी विरासत को लूटा जा रहा है' और उनका मुद्दा दक्षिण अफ्रीकी हिन्दुस्तानियों की तुलना में 'कहीं ज्यादा बड़ा मुद्दा है' (हरिजन, 18 फरवरी, 1939, गांधी वांगमय 68 : 272-74)। 1946 तक आते-आते गांधी को महसूस होने लगा था कि अफ्रीकन-भारतीय संयुक्त मोर्चे के लिए माकूल समय आ गया है।

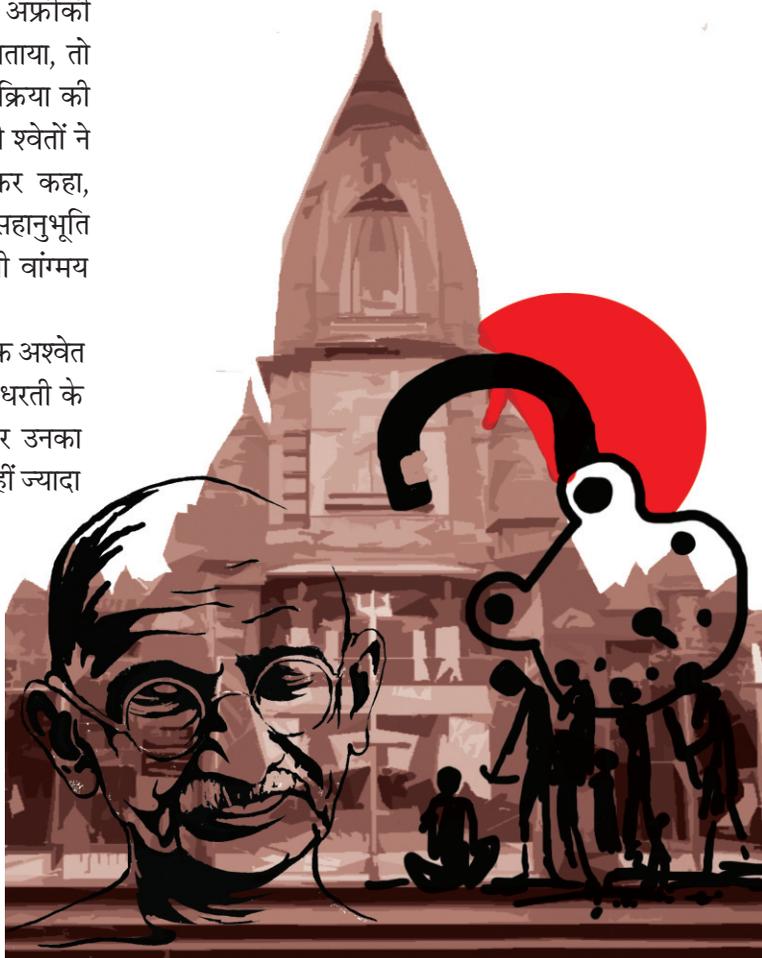
### गांधी की विनोदप्रियता

यहाँ मैं खुद से पूछता हूँ, रॉय के असल गांधी में दिलचस्पी न रखने की परवाह हम क्यों करें? आखिरकार, उन्होंने 'द डॉक्टर एंड द सेंट' में अपने उद्देश्यों के बारे में संकेत जो किया है। उनकी

इच्छा है, जैसा वे खुद कहती हैं... 'आसमान में तारों को पुनर्व्यवस्थित' करना (पृ. 140), न कि गांधी का विश्लेषण करना या समझना। वे गांधी को निशाना बनाकर आसमान से नीचे गिराना चाहती हैं। उनके अपने शब्दों में कहें तो वे गांधी के स्मारक को खिसकाकर बाहर का रास्ता दिखाना चाहती हैं ताकि आम्बेडकर को बेहतर ढंग से समझा जा सके और उनका सम्मान किया जा सके। यह विचार उन्होंने 'द डॉक्टर एंड द सेंट' में व्यक्त नहीं किये हैं, बल्कि एक सभा में जहाँ वो अपनी किताब की व्याख्या करने की कोशिश करती हैं, उन्होंने ऐसी इच्छा जाहिर की।

यह कहना आम्बेडकर के लिए कोई श्रद्धांजलि नहीं है कि उनकी विरासत गांधी की विरासत के ध्वंस पर निर्भर है।

मुझे यह भी पूछना चाहिए... किस चीज ने रॉय के अन्दर गांधी के प्रति इस जबरदस्त अरुचि को पैदा किया? क्या यह गांधी की जीवन-शैली थी? या फिर उनका जाहिरा यकीन कि सारे टकरावों के बावजूद, मानव मात्र को... और नस्लों, जातियों, वर्गों और राष्ट्रों को... ऐसे समाधान खोजने चाहिए



जो कि कड़वाहट को गलाने में मदद करें?

‘द डॉक्टर एंड द सेंट’ गांधी की जीवन-शैली के प्रति रॉय की पूर्ण असहमति को स्पष्ट कर देता है। उनके मुताबिक, गांधी ने ‘अपने अनुयायियों के लिए एक उदास और हँसी-मजाक से रिक्त विरासत छोड़ी : कोई आकांक्षा नहीं, सेक्स नहीं... कोई खाना नहीं, मोती नहीं, न अच्छे कपड़े, न नाच, न कविता। और बहुत थोड़ा संगीत’ (पृ. 81)।

यह चित्र कितना सच है? जो ‘बहुत थोड़ा संगीत’ उन्होंने संकोच के साथ गांधी की विरासत के तौर पर स्वीकार किया है वह दरअसल उनकी जिन्दगी में एक रोजमर्रा की चीज थी, सुबह और शाम की। सच है, यह धार्मिक या आध्यात्मिक संगीत था, इसके बावजूद गांधी के पास गाने सुनने के लिए कान थे और, वास्तव में, एक ठीक-ठाक आवाज भी, जिसके बारे में उनके आश्रम के साथी और कैद के साथी बताते हैं।

यह भी सच है की बॉलरूम डांसिंग (और वायलिन) की शिक्षा जो उन्होंने एक छात्र के रूप में लन्दन में हासिल की थी, बाद में कभी काम में नहीं लायी गयी। मगर गांधी की तरह कोई भी जो अगर ‘आनन्द के साथ नृत्य’ की इतनी बातें करता हो, नृत्य का दुश्मन नहीं हो सकता। और शायद रॉय इस बात से अनभिज्ञ हैं कि गांधी अपने जर्नल्स में इंग्लिश, हिन्दी, बंगाली, उर्दू या फिर गुजराती कविताओं का भरपूर प्रयोग करते थे।

जहाँ तक उनकी ‘आनन्द-विहीन और हास-परिहास विहीन’ दुनिया की बात है, ‘राइज एंड फॉल ऑफ द थर्ड राइख’ के अमरीकी लेखक विलियम शिरेर ने अपने और अपने कुछ साथियों के गांधी के साथ बिताये वक्त की बात करते हुए जो कहा था, वह यहाँ प्रस्तुत है। ‘बहुत ही जल्दी गांधी ने हमें खूब हँसाया और सहज बना दिया। अगर इस दुनिया की तमाम शख्सियतों में कोई गांधी से आधा भी आकर्षक है, तो मैंने उसे नहीं देखा’ (जैक से उद्धृत 1956 : 399)।

और वे दूसरों के मजाक से भी खूब आनन्द उठाते थे। 1932 में पूना जेल से श्रीनिवास शास्त्री को लिखते हुए गांधी ने कहा, ‘सरदार पटेल मेरे साथ हैं। उनके चुटकुले मुझे तब तक हँसाते हैं जब तक मैं और हँसने की हालत में नहीं रह जाता, वह भी दिन में एक बार नहीं कई बार’ (पारिख 2 : 91-92)। जिसने भी गांधी के साथ कुछ मिनट से ज्यादा गुजारे, वह गांधी के हँसमुख पक्ष से रू-ब-रू हो जाता था।

इतिहास में कई अन्य लोगों की तरह, जिन्होंने अपने कन्धों पर चुनौतीपूर्ण लक्ष्य लिये, गांधी ने सेक्स के मामले में कड़ा रुख अख्तियार किया। कई लोगों को उस रुख पर

आपत्तियाँ हो सकती हैं। लेकिन रॉय गांधी को जितना शुष्क चित्रित करती हैं, उसका— गांधी का कभी उनके दोस्तों या दुश्मनों से भी सामना नहीं हुआ। सच कहा जाये तो ऐसा गांधी कभी अस्तित्व में था ही नहीं।

## दम्भी और गलत

गांधी को ध्वस्त करने के क्रम में, रॉय थोड़ा ठहरकर गांधी को ‘दुनिया के ज्ञात इतिहास में सम्भवतः सबसे शातिर राजनीतिज्ञ’ सिद्ध करती हैं (पृ. 58)। चूँकि हर राजनीतिज्ञ किसी खास लक्ष्य के लिए काम करता है, कम-से-कम किसी एक समय में, हम पूछ सकते हैं, वे क्या लक्ष्य थे जिनको पाने के लिए गांधी अपना शातिराना कौशल प्रयोग में लाते थे?

रॉय इस मामले में अपने स्पष्ट मत रखने से बचती हैं। हालाँकि यहाँ-वहाँ परोक्ष रूप से वह ये इशारा करती हैं कि गांधी दरअसल गरीबों के पक्षधर नहीं थे और समानता स्थापित करना उनका असली लक्ष्य नहीं था। इसके बावजूद, यह काफी नहीं है कि एक ‘शातिर राजनीतिज्ञ’ कथित तौर पर यह जानता हो कि वह क्या नहीं चाहता। बल्कि उसे यह जरूर पता होना चाहिए की वह क्या चाहता है।

एक बिन्दु पर, रॉय गांधी के उद्देश्यों को समझने की तरफ बढ़ती दिखाई देती हैं। वे लिखती हैं :

गांधी दक्षिण अफ्रीका में 20 साल की राजनीतिक गतिविधियों के बाद 1905 में भारत लौट आये, और राष्ट्रीय आन्दोलन में डूब गये। उनकी पहली दिलचस्पी, जैसी कि कई राजनेताओं की होगी, तमाम तबकों को एक साथ पिरोना था जिससे कि भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस यह दावा कर सके कि वह उभरते हुए राष्ट्र की वैध और इकलौती प्रतिनिधि है (पृ. 58, जोर आपका)।

वह यहाँ बुरी तरह ज्ञान के दम्भ से भरी हुई हैं, और कुछ मायनों में काफी गलत भी हैं।

जब गांधी 1915 में भारत लौटे तब वे आईएनसी का हिस्सा नहीं थे। लेकिन वे सम्भवतः उस वक्त के इकलौते भारतीय जरूर थे जिनका सायास लक्ष्य सभी भारतीयों... ऊँची जाति के हिन्दू, दलित, मुसलमान, किसान और औद्योगिक किसान... को राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल करना था। वे पहले व्यक्ति थे जो अपने भाषायी/सांस्कृतिक क्षेत्र से बाहर के लोगों को सदस्य बनाने की कोशिश करते हैं। वे पहले व्यक्ति थे जो आम लोगों तक पहुँच बनाने के लिए स्थानीय भाषाओं के प्रयोग पर जोर देते हैं और शायद वही पहले व्यक्ति थे जो भारत की पूरी धरती को जानने के लिए प्रतिबद्ध

थे और जितनी हद तक सम्भव हो उसके लोगों को भी। जहाँ तक उनके 'राष्ट्रीय आन्दोलन में डूबने' का सवाल है, यह कहना ज्यादा न्यायसंगत होगा कि 1919-20 में उन्होंने एक राष्ट्रीय आन्दोलन खड़ा किया, जिसमें वे और अन्य लोग सर से पाँच तक डूब गये।

'एकसूत्र में पिरोना' यह उक्ति गांधी के लिए उचित ही है।

उनके साम्राज्यी शत्रुओं विंस्टन चर्चिल, लार्ड लिनलिथगो और आर्चिबाल्ड वावेल जैसे लोगों के दिमाग में गांधी के उद्देश्यों को लेकर कोई सन्देह नहीं था। वे सब सहमत थे कि ब्रिटिश राज का अन्त गांधी का सबसे बड़ा जुनून था। जबकि चर्चिल की गांधी के प्रति चिढ़ सबको पता है, बहुतों को नहीं पता होगा कि 1947 में, वावेल, भारत छोड़ो आन्दोलन के समय ब्रिटिश कमांडर-इन-चीफ और 1943 से 1947 तक वायसराय, ने गांधी को 'साम्राज्य का कठोरदिल दुश्मन' कहा था और उन विरोधियों में 'सबसे विकट' कहा था 'जिन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के हिस्सों को हाल के सालों में (साम्राज्य से) अलग किया था' (मून 1973 : 439)।

अब, रॉय के पाठ के बारे में एक दिलचस्प वाकिया में, भर्त्सना करने योग्य बात। 153 पेज लम्बी अपनी विध्वंसक कवायद में रॉय आजादी की लड़ाई का बिल्कुल जिक्र नहीं करतीं और 'राष्ट्रीय आन्दोलन' का केवल एक या दो बार। जाति, वर्ग, नस्ल और लिंग जिस पर 'द डॉक्टर एंड द सेंट' उत्साहपूर्वक (और चयनात्मक रूप से) चर्चा करती है उस विश्लेषण से यह महान सन्दर्भ पूरी तरह से गायब है।

इस सन्दर्भ का मतलब था कि भारतीय, जो न केवल भारतीय अन्यायों से दुःखी और शर्मिन्दा थे बल्कि विदेशी शासन से भी, अपनी प्राथमिकता तय करने को बाध्य थे। कई बार, उन्हें भारतीय जुल्मों के खिलाफ संघर्ष और यूरोपियन गुलामी के खिलाफ संघर्ष में से किसी एक को चुनना पड़ता था। इस तरह वे या तो बारी-बारी से दोनों में से कोई एक चुनते थे या दोनों के बीच डोलते रहते थे।

18वीं सदी की आखिरी तिमाही में, ब्रिटेन के अमेरिकी उपनिवेश में कुछ चेतना-सम्पन्न लोग भी अपनी प्राथमिकता तय करने पर मजबूर थे। सवाल था कि उन्हें अपनी ताकत गुलामी के खिलाफ लड़ाई में खर्च करनी चाहिए या ब्रिटिश राज के खात्मे पर? आखिर में, आजादी ने अमेरिकी ऊर्जा को अपनी तरफ ज्यादा खींचा, बनिस्पत दासता के विरोध के। दासता को अमेरिकन संविधान में वास्तव में बड़ी सरसरी तौर पर संहिताबद्ध किया गया था। इसे तो केवल 1865 में जाकर

तब गैर-कानूनी घोषित किया गया, जब दक्षिण के इलाकों ने भी गृह-युद्ध में आत्म-सर्पण कर दिया।

इस गृह-युद्ध के बारे में राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन भी कई अन्य अमेरिकियों की तरह सोचते थे कि संघ की एकता को बचाना हर हाल में जरूरी है। और इसीलिए गुलामी का उन्मूलन तभी हुआ, जब दक्षिणी हिस्सों का विलय किया जा चुका था। आम्बेडकर, जिन्होंने न्यूयॉर्क के कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय से पीएच.डी. की डिग्री हासिल की थी, इस बात को खूब अच्छी तरह जानते थे (1945 : 271)।

गांधी और उनकी पीढ़ी जिस भारत में जी रही थी उसमें चेतना-सम्पन्न लोगों के लिए एक से ज्यादा चुनौतियाँ थीं। इनमें से अगर तीन सबसे बड़ी चुनौतियों का नाम लिया जाय तो वे इस तरह होंगी—भारत विदेशी

शासन के अधीन एक गुलाम राष्ट्र था, भारतीय समाज के भीतर छुआछूत की प्रथा प्रचलित थी, और देश में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच खाई थी।

हालाँकि जैसा कि हमने देखा गांधी के साम्राज्यी शत्रु उन्हें बुनियादी तौर पर ब्रिटिश शासन का दुश्मन मानते थे। लेकिन हम सब जानते हैं कि उन्होंने छुआछूत के खिलाफ संघर्ष और और हिन्दू-मुस्लिम एकता की जिम्मेदारी भी अपने कंधों पर ली थी। इन मायनों में वो भारत के बेतरह बँटे हुए समाज को एक धागे में पिरो रहे थे।

### असाधारण मनुष्य

जब गांधी यरवदा जेल में साम्राज्य के कैदी थे, सितम्बर 1932 में उन्होंने पृथक दलित निर्वाचक मंडल और उच्च जाति हिन्दुओं के मुद्दे पर एक अनियतकालीन उपवास की घोषणा की। उपवास के ठीक एक दिन पहले भारत के सबसे प्रभावशाली उच्च जाति के नेताओं ने मुम्बई में संकल्प लिया कि 'अछूतों' के लिए 'सार्वजनिक कुओं, सार्वजनिक स्कूलों, सार्वजनिक सड़कों और अन्य सार्वजनिक संस्थानों' पर बराबरी का हक 'स्वराज की संसद के सबसे शुरुआती अधिनियमों

**वे पहले व्यक्ति थे जो अपने भाषायी/सांस्कृतिक क्षेत्र से बाहर के लोगों को सदस्य बनाने की कोशिश करते हैं। वे पहले व्यक्ति थे जो आम लोगों तक पहुँच बनाने के लिए स्थानीय भाषाओं के प्रयोग पर जोर देते हैं और शायद वही पहले व्यक्ति थे जो भारत की पूरी धरती को जानने के लिए प्रतिबद्ध थे और जितनी हद तक सम्भव हो उसके लोगों को भी।**

में' होगा (गांधी वांगमय 51 : 159-60)। गांधी के दबाव में उन्होंने एक ऐसी ऐतिहासिक शपथ ली जो हालाँकि काफी पहले ले ली जानी चाहिए थी।

आम्बेडकर ने इस संकल्प पर ध्यान दिया था (1945 : 103) लेकिन रॉय अपने सर्वेक्षण से इसको निकाल बाहर करती हैं। गांधी के इस उपवास के दबाव के चलते भारत-भर में जो मन्दिर सदियों से 'अछूतों' के लिए बन्द थे उनके दरवाजे खुल गये। ब्राह्मणों ने दलितों को अपने घरों पर खाने के लिए आमन्त्रित किया। साम्राज्य ने अपनी ओर से यरवदा जेल के दरवाजे खोल दिये और आम्बेडकर गांधी से विचार-विमर्श करने यरवदा जेल गये।

जेल में हुई बातचीत के आधार पर दोनों नेताओं के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौते में गांधी न केवल उन बातों के लिए तैयार हो गये जिनका पहले वे विरोध किया करते थे जैसे विधायिकाओं में दलितों के लिए आरक्षण, बल्कि उन्होंने यह भी कहा कि दलितों की सीटों की संख्या उनकी आबादी के अनुपात में होनी चाहिए। अपनी पृथक निर्वाचक मंडल-सह-आरक्षित दलित सीटों की योजना में ब्रिटिश राज ने इसकी तुलना में सिर्फ आधी सीटें निर्धारित की थीं।

दूसरी तरफ, गांधी की जान बचाने के लिए आम्बेडकर अपनी ओर से पृथक निर्वाचक मंडल की माँग को छोड़ने के लिए सहमत हो गये जहाँ केवल दलित-ही-दलित प्रत्याशियों के समर्थन और विरोध में वोट करते। एक साझी जमीन पाकर, दोनों नेता इस समझौते पर राजी हुए। एक केबल लन्दन भेजा गया, जहाँ महामहिम की सरकार ने यह साझा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और गांधी ने अपना उपवास तोड़ दिया। इस समझौते का सार तत्त्व कालान्तर में भारतीय संविधान में प्रतिष्ठापित हुआ।

गांधी ने उपवास के दौरान ही दावा किया कि 'दलित वर्गों के सामाजिक, नागरिक और राजनीतिक उत्पीड़न' का सामना 'सुधारकों की एक बढ़ती हुई सेना' करेगी। उनके लिए इस मुद्दे का, उन्होंने जोड़ा, 'आध्यात्मिक महत्त्व, स्वराज से कहीं बढ़कर' है (गांधी वांगमय 51 : 119)। 'डॉ. आम्बेडकर, राय बहादुर श्रीनिवासन और— राय बहादुर एम. सी. राजा' दलित नेता, जिन्होंने उनके साथ यरवदा जेल में विचार-विनिमय किया था— के लिए अपनी 'हिन्दू कृतज्ञता' ज्ञापित करते हुए गांधी ने आगे कहा :

वे लोग तथाकथित उच्च जाति हिन्दुओं को उनकी पीढ़ियों तक किये गये पापों की सजा देने के लिए एक गैर-समझौतावादी और उपेक्षापूर्ण रुख अपना सकते थे। अगर वे ऐसा करते,

कम-से-कम मैं तो उनके रुख का विरोध नहीं कर सकता था और मेरी मौत और कुछ नहीं बल्कि असंख्य पीढ़ियों से जाति-बहिष्कृत लोगों पर किये जा रहे उत्पीड़न की एक तुच्छ कीमत होती। लेकिन उन्होंने एक महान रास्ता अपनाया और इस तरह यह सिद्ध कर दिया कि उन्होंने क्षमाशीलता की नीति अपनायी है। जिस पर सभी धर्मों ने जोर दिया है। मुझे उम्मीद करने दीजिये कि उच्च जाति के हिन्दू खुद को इस क्षमाशीलता के लायक साबित करेंगे (सीडब्ल्यू 51 : 143-45)।

साथ उच्च जाति हिन्दुओं के लिए उन्होंने एक चेतावनी जारी की और कहा कि 'मैं विश्वासघात का दोषी माना जाऊँगा, अगर मैं अपने साथी सुधारकों और उच्च जाति हिन्दुओं को सामान्य तौर पर यह चेतावनी नहीं देता हूँ कि उपवास का तोड़ा जाना इसे फिर से शुरू करने की शर्त पर है। अगर सुधार को लगातार आगे नहीं बढ़ाया जाता और एक नियत समय में (लक्ष्य) हासिल नहीं कर लिये जाते' (गांधी वांगमय 51 : 143-45)।

क्या सुधार 'लगातार आगे बढ़ाये गये और एक नियत समय में हासिल कर लिये गये'? बहुत कुछ किया गया, लेकिन उससे कहीं ज्यादा करने को बाकी रह गया। क्या गांधी ने इसके बाद एक और आमरण अनशन किया? नहीं, उन्होंने नहीं किया। हालाँकि मई 1933 में उनके द्वारा किया गया 21 दिन लम्बा एक उपवास छुआछूत से सम्बन्धित था। क्या इसका मतलब वे पाखंडी या ढोंगी थे और दलितों के एक गुप्त शत्रु जैसे थे, जैसा कि रॉय उन पर आरोप लगाती हैं। दूसरे भले ही यह मानते हों कि वह एक असाधारण मनुष्य थे जो कि एक से ज्यादा कठिन उद्देश्यों के लिए अपनी सभी मानवीय सीमाओं के साथ लड़ रहे थे और साथ-ही-साथ अपने लोगों की भी।

### आप हमारे नायक बन जायेंगे

इस समझौते पर दस्तखत के तुरन्त बाद आम्बेडकर ने कहा कि वे गांधी और अपने बीच 'बहुत कुछ समान' पाकर 'चकित थे, बुरी तरह चकित'। 'अगर आप खुद को पूरी तरह दलित वर्गों के उत्थान के लिए समर्पित कर देते हैं', आम्बेडकर ने गांधी से कहा, 'आप हमारे नायक बन जायेंगे' (प्यारेलाल 1932 : 59)।

गांधी के करीबी ब्रिटिश दोस्त, एण्ड्रूज— जो गांधी को 'मोहन' कहते थे और खुद गांधी जिन्हें 'चाली' पुकारते थे— भी गांधी को एक ऐसी ही सलाह देते हैं। यह याद दिलाते हुए कि गांधी 'बार-बार' कहते थे कि छुआछूत के बने रहते भारतीय लोग स्वराज के लिए मुफीद नहीं हैं, एण्ड्रूज ने अपने

दोस्त से केवल छुआछूत के मुद्दे पर ध्यान देने को कहा। साथ ही एक साथ 'दो मालिकों की सेवा' करने की कोशिश न करने को भी हिदायत दी। (ग्रेसी 1989 : 155)।

हम गांधी से सहमत हों या न हों, हम उनके द्वारा इस प्रस्ताव को ठुकराने के लिए दी गयी वजहों को देख सकते हैं :

मेरे प्रिय चालीं, मेरा जीवन एक अविभाजित इकाई है। यह टुकड़ों-टुकड़ों में बँटा नहीं है। सत्याग्रह, नागरिक प्रतिरोध, छुआछूत, (और) हिन्दू-मुस्लिम एकता एक-दूसरे से अलग न की जा सकने वाली इकाइयाँ हैं। तुम मेरे जीवन के किसी एक समय में किसी एक चीज पर बलाघात देख सकते हो, किसी दूसरे समय में किसी दूसरे पर। लेकिन यह बिल्कुल एक पियानो वादक की तरह है, कभी एक सुर पर जोर देता है तो कभी दूसरे पर। लेकिन वो सभी एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं।

मेरे लिए यह कहना एकदम असम्भव है : 'मुझे अब नागरिक अवज्ञा या स्वराज से कुछ लेना-देना नहीं है!' यही नहीं... छुआछूत का पूरी और अन्तिम तरह उन्मूलन... स्वराज के बिना निपट असम्भव है... प्रेम। मोहन (गांधी वांगमय 55 : 196-69, जोर आपका)

रॉय संक्षेप में आम्बेडकर के पूना पैक्ट के वक्त गांधी के प्रति गर्मजोशी को स्वीकार करती हैं, लेकिन तुरन्त यह भी जोड़ती हैं, 'बाद में, हालाँकि, आघात से बाहर आते हुए, आम्बेडकर लिखते हैं : उपवास में कुछ भी महान नहीं था। वह एक बेईमान और गन्दा अधिनियम था' (पृ. 126)।

आम्बेडकर ने वास्तव में ये कठोर शब्द इस्तेमाल किये थे। लेकिन कब? जब वे गांधी के उपवास के आघात से उबर पाये, रॉय कहती हैं। आम्बेडकर, गांधी के बेअदब विरोधी, को गांधी के 'दबाव' से मुक्त होने में कितने दिन लगे? सात दिन या सात महीने? रॉय उनके इस कथन की तारीख दबा कर जो शब्द उद्धृत करती हैं, वास्तव में वे 1945 की गर्मियों में लिखे गये थे। उपवास और पैक्ट के तकरीबन 13 साल बाद एक जोशीले निबन्ध में, जिसका शीर्षक आम्बेडकर ने 'व्हॉट काँग्रेस एंड गांधी हैव डन टू द अनटचेबल्स' रखा था।

इस क्रोध से भरे टेक्स्ट में, आम्बेडकर गांधी के उपवास को निशाना बनाते हैं और जिस तरह पूना पैक्ट को अमल में लाया गया उस तरीके को भी। लेकिन हमें यह स्पष्ट करने दीजिये पैक्ट की शर्तों को उन्होंने निशाना नहीं बनाया था।

1945 के अपने निबन्ध में कई जगह आम्बेडकर दावा करते हैं कि उनके लिए पूना पैक्ट एक विजय थी। इस तरह वे

लिखते हैं कि 'जब उपवास विफल हुआ और मि. गांधी पैक्ट पर हस्ताक्षर करने को बाध्य हुए जिसे पूना पैक्ट कहा जाता है और जो अछूतों की राजनीतिक माँगों को स्वीकार करता था— उन्होंने (गांधी ने) काँग्रेस को इन राजनीतिक अधिकारों को हासिल करना मुश्किल बनाने के लिए गलत चुनावी कार्यनीति अपनाने की छूट देकर अपना बदला ले लिया' (आम्बेडकर 1945 : 259)।

रॉय कहती हैं कि आम्बेडकर के पास उपवास पर डटे गांधी का सामना करते समय समझौता करने के अलावा और कोई चारा नहीं था (पृ. 126)। कुछ पन्नों के बाद, वे 'पूना पैक्ट की पराजय की बात' करने लगती हैं (पृ. 137)। बावजूद इसके आम्बेडकर ने 1945 के अपने तेज-तर्रार निबन्ध में न केवल पैक्ट की शर्तों की आलोचना करने से परहेज किया, बल्कि बाद में भी कभी यह कोशिश नहीं की कि पैक्ट को रद्द किया जाये या बदला जाये। कम-से-कम जहाँ तक मैं खोज सका हूँ यही सच है। पैक्ट को एक 'पराजय' की तरह देखने से इतर उन्होंने इसे एक समझौते की तरह देखा जिससे सबको फायदा हुआ था, दलितों को भी।

1945 का अपना यह निबन्ध लिखने के महज दो साल बाद आम्बेडकर ने संविधान निर्माण-प्रक्रिया का नेतृत्व किया। यह संविधान न केवल इस पैक्ट को खुद में समाहित करता था, बल्कि आज के लिहाज से देखें तो भी यह पैक्ट एक निःस्वार्थ राजनयिक समझौते के तौर पर खड़ा दिखाई देता है।

जहाँ तक गांधी के 1932 के उपवास का ताल्लुक है, आम्बेडकर अपने 1945 के निबन्ध में स्वीकार करते हैं— भले ही रॉय न कहती हों— कि रूढ़िवादी हिन्दुओं ने इसे खुद पर एक दबाव की तरह देखा और इसकी वजह से जिस पैक्ट ने जन्म लिया, उसके प्रति रोष जताया। यह देखते हुए कि जो रियायतें उन्हें मिली थीं, उनसे 'अछूत खिन्न' थे, आम्बेडकर लिखते हैं कि 'उच्च जाति के हिन्दुओं ने इसे (पैक्ट को) निश्चित रूप से बहुत नापसन्द किया, हालाँकि उनमें उसे खारिज करने की हिम्मत नहीं थी'। (1945 : 90-91)

गांधी को लग रहा था कि रूढ़िवाद अपना आधार खो रहा है। नेहरू ने इसे संघर्ष को इस तरह देखा (15 फरवरी 1933); सनातनियों के खिलाफ संघर्ष बहुत ही दिलचस्प होता जा रहा है भले ही यह मुश्किल भी होता जा रहा है... जो गालियाँ वे मुझे दे रहे हैं, वे शानदार ढंग से तरोताजा करने वाली हैं। (उनके मुताबिक) मैं वह सब कुछ हूँ जो इस धरती पर बुरा और भ्रष्ट है। लेकिन यह तूफान थमेगा... यह शमा के चारों तरफ परवाने के मरने से पहले का नृत्य है।

कोई अचरज नहीं (जैसा कि 'द डॉक्टर एण्ड द सेन्ट' में रॉय स्वीकार नहीं करेंगी), कुछ सनातनियों ने 1934 में गांधी को मारने की कोशिश की। बिहार के जसीडीह और पुणे में उनकी जान लेने की कोशिशें हुई थीं।

## जाति का विनाश तय है

आम्बेडकर जाति, वर्ण, और वंशानुगत पेशे को लेकर 1936 में गांधी के साथ हुई बहस में स्पष्ट रूप से विजेता थे। यह एक ऐसी बहस थी जो उनके उसी साल दिये गये एक व्याख्यान अनिहिलेशन ऑफ कास्ट से शुरू हुई थी।

1936 की इस बहस के कुछ महीने पहले ही, गांधी ने जाति का सार्वजनिक रूप से बचाव करना छोड़ दिया था। 16 नवम्बर, 1935 के एक आलेख का शीर्षक था— 'कास्ट हैज टू गो'। इसमें उन्होंने लिखा, 'जितनी जल्दी लोगों की चेतना से (जाति) का उन्मूलन हो जायेगा, उतना अच्छा' (गांधी वांगमय 62 : 121-22)। 1935 के पहले, गांधी ने कुछेक बार दावा किया की जाति का 'एक आदर्श' स्वरूप जायज हो सकता है। साथ ही यह भी जोड़ा कि 'आदर्श' कभी व्यवहार में नहीं आता और हमेशा जोर दिया कि ऊँच और नीच का कोई भी विचार पूरी तरह गलत है। यह जाति का दिखावटी 'बचाव' गांधी का अपना तरीका था जो कड़वी गोली पर मिठास की परत चढ़ाने के बाद उच्च जाति के हिन्दुओं को उसे निगलने को कह रहे थे।

आम्बेडकर के साथ 1936 की बहस में भी, गांधी ने जाति के प्रति अपने नकार को यह कहते हुए कि यह 'आध्यात्मिक और राष्ट्रीय विकास के लिए नुकसानदायक है' दोहराया। सबसे बढ़कर उन्होंने वह किया जिसे करने से वह तब तक हिचकिचाते रहे थे— उन्होंने खुले तौर पर अन्तर्जातीय विवाह और अन्तर्जातीय भोज को स्वीकारने की पुष्टि की (आम्बेडकर 2014 : 326)। हालाँकि उन्होंने यह भी दावा किया कि वर्ण जाति से भिन्न हैं और वर्ण को यह कहते हुए जायज ठहराने की कोशिश की कि वंशानुगत पेशे— उनके मुताबिक जिस पर वर्ण-विभाजन आधारित था— सौहार्द और मितव्ययिता को सुनिश्चित कर सकता था। हालाँकि, उन्होंने आगे कहा कि एक शुद्ध वर्ण-व्यवस्था को बहाल करना वैसा ही है जैसे कि 'एक चींटी शक्कर के बोरे को उठाने की कोशिश करे' या 'डेम पार्किंगटन एक पोंछे के सहारे अटलांटिक महासागर को पीछे धकेलने की कोशिश करे'। यानी वह कह रहे थे कि वर्ण-व्यवस्था असम्भव है। वर्ण के इस आभासी 'बचाव' को न तो समझना आसान था न ही सहमत होना,

और इसीलिए आम्बेडकर ने आसानी से इसमें खामियाँ खोज लीं।

तो गांधी-आम्बेडकर की बहस पर आज इस तरह निष्कर्ष निकाले जाते हैं। बहुत से लोग अनिहिलेशन ऑफ कास्ट से जो एक चीज चुनकर निकाल लाते हैं, वह है 1936 में आम्बेडकर का सभी हिन्दुओं से स्पष्ट रूप से यह कहना कि 'माफ करियेगा, मैं आपके साथ नहीं रहूँगा... मैं (हिन्दू धर्म के) दायरे से बाहर जा रहा हूँ' (2014 : 317)। जो एक दूसरी चीज सामने लायी जाती है वह है गांधी द्वारा हिन्दू धर्म का बचाव करना और उनका इस बात पर खेद जताना कि आम्बेडकर ने जो 'घृणा' न्यायसंगत रूप से 'उसके अनुयायियों के एक हिस्से' के विरुद्ध महसूस की थी, उसे बड़ी आसानी से समूचे हिन्दू धर्म की तरफ मोड़ दिया (आम्बेडकर 2014 : 322)।

गांधी की मृत्यु के आठ साल बाद, नेहरू ने यूरोपियन पत्रकार तिबोर मेण्डे से कहा,

मैंने (गांधी) से बार-बार पूछा : आप जाति-प्रथा पर सीधा हमला क्यों नहीं बोलते? उन्होंने कहा, 'मैंने छुआछूत का मुकाबला करते हुए इसे पूरी तरह कमजोर कर दिया है'।... गांधी की खासियत दुश्मन का सबसे कमजोर बिन्दु पहचानने में थी, उसके अग्रभाग को तोड़ने में। (मेण्डे में उद्धृत 1958)

यह महसूस करते हुए कि अगर वे जाति पर सीधा हमला शुरू कर देंगे तो रूढ़िवादी एकजुट हो जायेंगे, गांधी ने एक ऐसी चीज (छुआछूत) को निशाना बनाया जिसकी कोई पैरवी और बचाव न कर सके।

## संयुक्त निर्वाचक मंडल

1937 के चुनावों में भारत के हिन्दुओं ने बड़ी तादाद में, साथ ही बहुत से दलितों ने— जिन्हें उस वक्त गांधी और अन्य कई भारतीय, साथ ही दलित भी, हरिजन बुलाते थे— आम्बेडकर की पार्टी की बजाय गांधी की काँग्रेस के लिए वोट किया। जैसा कि रॉय स्वीकार नहीं करती हैं, 1937 में काँग्रेस द्वारा बनायी गयी लगभग हर प्रान्तीय कैबिनेट में एक दलित मन्त्री था। दिसम्बर 1939 तक, जब काँग्रेस सरकारों ने इस्तीफा दे दिया (क्योंकि सितम्बर 1939 से छिड़े युद्ध ने साम्राज्य-काँग्रेस के बीच मतभेद तीखे कर दिये थे), इन सरकारों ने दलित अधिकारों के लिए कुछ उपलब्धियाँ हासिल कर ली थीं। उदाहरण के तौर पर मद्रास प्रेसीडेंसी में 1938 के एक कानून ने नौकरियों, कुओं, सार्वजनिक परिवहन, सड़कों, स्कूलों

और कॉलेजों में दलितों के साथ किसी भी भेदभाव को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। एक दूसरे कानून ने उन मन्दिरों के अधिकारियों को सुरक्षा प्रदान की जो मन्दिरों के दरवाजे खोलना चाहते थे। इन कानूनों की वजह से दक्षिण भारत के कई बड़े-बड़े मन्दिरों में दलितों का पहली बार प्रवेश हुआ।

आम्बेडकर के 1945 के उस लेख का सन्दर्भ क्या था जो उन्होंने नयी दिल्ली के अपने पृथ्वीराज रोड स्थित सरकारी आवास पर लिखा था? इस वक्त, वे वाइसराय की एग्जीक्यूटिव कौंसिल के सदस्य थे। युद्ध लगभग खत्म होने वाला था और भारत छोड़ो आन्दोलन, जिसने भारत के बड़े हिस्से में उथल-पुथल मचा दी थी, की वजह से तीन साल जेल में रहने के बाद काँग्रेस नेतृत्व रिहा किया जाने वाला था। ब्रिटिश सरकार भारत के लिए एक नई राजनीतिक योजना लाने के कगार पर थी और पूरे देश में नए चुनाव आने वाले थे।

एक प्रबुद्ध चिन्तक और एक सदस्य (दरअसल मन्त्री) 1945 का यह लेख लिखते हुए किसी भी नई ब्रिटिश योजना को प्रभावित करना चाहते थे।

साथ ही, वे एक राजनीतिक नेता भी थे जो 1937 चुनावों के परिणाम भूल नहीं सकते थे जो कि विश्वयुद्ध के कारण इन चुनावों के पहले हुआ आखिरी चुनाव था। अब 1945-46 में वे बेहतर परिणामों की उम्मीद रखते थे। अपने 1945 के निबन्ध के मार्फत, 1937 के चुनाव परिणामों से बेचैन आम्बेडकर, ब्रिटिश नेताओं के सामने अपना पक्ष रख रहे थे और साथ ही भारतीय मतदाताओं के सामने भी।

हालाँकि 1945 के चुनावों ने स्पष्ट कर दिया कि भारतीय मतदाताओं में, जिसमें भारी तादाद में दलित भी शामिल थे, आईएनसी को लेकर जबरदस्त आकर्षण था। उच्च जाति हिन्दुओं के साथ-साथ दलित वोट भी हासिल करते हुए आईएनसी ने 1937 की तुलना में कहीं ज्यादा संख्या में दलित सीटें जीतीं।

कई दलित नेताओं ने यह शिकायत की कि गैर-दलित

मत उनकी हार की वजह बने। दुर्भाग्य से, 1952 के आम चुनावों में आम्बेडकर के साथ खुद यही हुआ, जिसके बाद उन्होंने मन्त्रिमंडल से इस बिना पर निराश होकर इस्तीफा दे दिया कि काँग्रेस हिन्दू कोड बिल पास करने में सुस्ती दिखा रही है। इसके बाद जब 1954 में उन्होंने एक उपचुनाव में शिरकत की जिसमें फिर उन्हें हार का सामना करना पड़ा। एक संयुक्त निर्वाचक मंडल में, दलितों के साथ-साथ सभी जातियों के अच्छे लोग, कई बार अपनी जाति के बाहर के वोटों की वजह से हरा दिये जाते थे, और कई बार इन 'बाहरी' मतदाताओं

के मतों से जीत भी जाते थे।

आम्बेडकर की विरासत पर कांशीराम द्वारा बनायी गयी बहुजन समाज पार्टी ने भारत के सबसे बड़े प्रदेश, उत्तर प्रदेश, में एक बार से ज्यादा बार सरकार चलायी। जिसका श्रेय काफी हद तक कहा जा सकता

है कि पूना

पैक्ट और

संयुक्त

निर्वाचक

मंडलों को

जाता है।

वह एकट

कोई मूढ़ता

नहीं था जिसका

रॉय को इतना दर्द है।

और, इस बात की पैरवी करना मुश्किल होगा कि 2015 का भारत या 2015 के दलित और आदिवासी-पृथक दलित या आदिवासी निर्वाचक मंडलों के अन्तर्गत आज से बेहतर हालत में होते।

### शक्तिशाली प्रतीक

चूँकि आजादी नजदीक ही दिख रही थी, गांधी भारतीय समाज की समस्याओं से निपटने के लिए आमूल परिवर्तनवादी होने लगे। आजादी के लगभग एक साल पहले 1 अगस्त, 1946 को उन्होंने पटेल को लिखा, 'वे कौन लोग थे जिन्होंने हरिजनों को पीटा, उनका कत्ल किया, कुओं का पानी लेने से रोका, उन्हें स्कूलों से बाहर निकाल फेंका और उन्हें अपने घरों में घुसने पर रोक लगायी? वे काँग्रेस के लोग थे। क्या वे नहीं

थे? इस बात का हमें सटीक अन्दाजा होना बहुत जरूरी है।' (गांधी वांग्मय 85 : 102)

इस पत्र को लिखने के तीन महीने बाद, गांधी ने खुद को पूर्वी बंगाल के नोआखाली में पाया, जहाँ साम्प्रदायिक दंगों की आग भड़क चुकी थी। जनवरी और फरवरी 1947 में, वे और उनके मुट्ठी भर साथी, गाँव-गाँव भटक रहे थे। उन्होंने तकरीबन 47 रातों पूर्वी भारत के घरों में बितायीं, जहाँ उनके ज्यादातर मेजबान दलित थे। जिनमें धोबी, मछुआरे, मोची और जुलाहे शामिल थे। नोआखाली में गांधी ने उच्च जाति की हिन्दू औरतों से कहा कि अगर वे अछूतों का तिरस्कार जारी रखती हैं, तो अभी और दुःख भोगने बाकी हैं। चाँदीपुर गाँव की औरतों को उनके द्वारा एक क्रान्तिकारी सलाह दी गयी— 'एक हरिजन को रोजाना अपने साथ खाने पर आमन्त्रित करो। या कम-से-कम खाना खाने और पानी पीने से पहले उनसे उसे छूने को कहो। अपने पापों का प्रायश्चित्त करो' (तेन्दुलकर 1951 : वॉल. 7, 350, सी डब्ल्यू 93 : 229)। 24 अप्रैल, 1947 को उन्होंने पटना में कहा कि पिछले कुछ समय से उन्होंने 'एक उसूल बनाया है कि वे उस विवाह में शामिल नहीं होंगे न ही उसे आशीर्वाद देंगे जिसमें कम-से-कम एक पक्ष हरिजन न हो'। (गांधी वांग्मय 87 : 350)

लेकिन रॉय की इन सबमें कोई दिलचस्पी नहीं है।

आजादी के लगभग दो महीने पहले— जून 1947 में— गांधी ने प्रस्ताव दिया कि 'चकरैया जैसे किसी हरिजन को या किसी हरिजन लड़की को भारत का पहला राष्ट्रपति बनाया जाना चाहिए और जवाहरलाल नेहरू को प्रधानमंत्री बनना चाहिए। ऐसी ही व्यवस्था प्रान्तों के लिए की जा सकती है।' (गांधी वांग्मय 95 : 217)

यह पूरी तरह एक प्रतीकात्मक सलाह थी? बावजूद इसके इस बात की प्रतीकात्मकता बहुत शक्तिशाली थी। यह गांधी द्वारा दी गयी बहुतेरी सलाहों में एक थी जिसको अपने 'गुरु' के अन्तिम सालों में नेहरू, पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, राजगोपालाचारी और आईएनसी के अन्य नेताओं ने सफलतापूर्वक अनसुना कर दिया था।

14 जून, 1947 को, जबकि विभाजन स्वीकार कर लिया गया था और आजादी बस दो महीने दूर थी, गांधी ने काँग्रेस को छुआछूत और जातिगत भेदभाव और आदिवासी प्रश्नों पर सीधा मोर्चा लेने की सलाह दी :

'और अछूतों का क्या? अगर तुम कहते हो कि 'अछूत' कुछ नहीं हैं, आदिवासी कुछ नहीं हैं, फिर तुम खुद को जिन्दा नहीं रख पाओगे। लेकिन अगर तुम सवर्ण और अवर्ण के भेद

को मिटा लेते हो, अगर तुम शूद्रों को, अछूतों को, और आदिवासियों के साथ बराबरी का बर्ताव करते हो तो इस बुरी चीज विभाजन, से भी शायद कुछ अच्छा निकलकर आयेगा' (गांधी वांग्मय 95 : 286-87)।

स्वराज की लड़ाई जीत ली गयी है, अब काँग्रेस के पास सामाजिक न्याय की लड़ाई को टालने का कोई बहाना नहीं है, गांधी ने स्पष्ट कहा।

रॉय के लिए इस सबका कोई महत्त्व नहीं है। उनके मुताबिक 'गांधी के जाति-सम्बन्धी विचारों और हिन्दू दक्षिणपन्थ के विचारों में कोई भेद कभी प्रकाश में नहीं आया'। वे आगे कहती हैं कि 'दलित दृष्टिकोण से देखें तो, गांधी की हत्या भ्रातृ-हत्या ज्यादा लगती है, बजाय एक विचारधारात्मक विरोधी की हत्या के' (पृ. 128)।

लेकिन दूसरी तरफ रॉय खुद गांधी और हिन्दू दक्षिणपन्थ के बीच एक विचारधारात्मक संघर्ष को स्वीकारती हैं। इस तरह वे लिखती हैं : 'आज भी हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सहिष्णुता और समावेशीकरण का सन्देश गांधी का वास्तविक, दीर्घजीवी और भारत के विचार के लिए सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण योगदान है' (पृ. 82)। इसका मतलब यह कि गांधी और हिन्दू दक्षिणपन्थ के बीच के इस विचारधारात्मक संघर्ष को रॉय तो बखूबी पहचान सकती हैं, लेकिन अगर दलित दृष्टिकोण से देखें तो दलित नहीं पहचान सकते।

### अहम साझेदारी

दिसम्बर 1946 में गांधी ने एक प्रस्ताव दिया, जिसे नेहरू और पटेल ने स्वीकार कर लिया था (गोरे 1993 : 180-81, रामचन्द्रन 1964 : 179)। दलित साहित्य आम्बेडकर को आजाद भारत के पहले मन्त्रिमंडल में शामिल करने के गांधी के अनूठे प्रस्ताव— जिसे नेहरू और पटेल ने आगे बढ़ाया— के पीछे गांधी की अहम भूमिका को दर्ज करता है (गोरे 1993 : 180-81, शास्त्री 1991 : 32-33)। लेकिन रॉय इसके ऊपर एक मोटी चादर डाल देती हैं। आम्बेडकर के 1933 से 1947 के बीच गांधी और आईएनसी के प्रति तीखी आलोचना पर दर्जनों पेज खर्च करने के बाद रॉय सिर्फ यह कहती हैं :

सद्भावना के तौर पर और शायद इसलिए कि उस काम को करने के लिए उनकी बराबरी का कोई दूसरा मौजूद नहीं था, काँग्रेस ने आम्बेडकर को संविधान-सभा में नियुक्त किया। अगस्त 1947 में आम्बेडकर भारत के पहले कानून मन्त्री बनाये गये और संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष भी।

बस इतना ही। इस निमन्त्रण और उसके स्वीकारने के

पीछे की राजनीतिक परिपक्वता पर कोई टिप्पणी न करते हुए, वे बड़े प्रभावी ढंग से दो कट्टर प्रतिद्वन्द्वियों के उल्लेखनीय रूप से साथ आने— जिसके परिणामस्वरूप अपने जीवन के अन्तिम दौर में गांधी की आम्बेडकर के साथ साझेदारी सम्भव हुई— की घटना को छिपा ले जाती हैं।

आम्बेडकर के संविधान-सभा में आने के अद्भुत परिणामों के बारे में हर कोई जानता है। एक मेधावी और गर्मजोश इन्सान, जो साथ-ही-साथ एक भारतीय और दलित भी थे, ने एक ऐसे संविधान को निर्देशित किया जो उस समाज के भीतर सभी तबकों को समान अधिकार देता था जिसने सदियों तक उनके जैसे तमाम लोगों को कमतर और अछूत कहा था और उनके साथ कठोर बर्ताव किया था। और, एक चुनी हुई संविधान-सभा, जहाँ एक बड़ी बहुसंख्या उच्च जाति हिन्दुओं की थी, ने इस संविधान का स्वागत किया और उसे अंगीकार किया।

गांधी की हत्या के दो महीने बाद जब आम्बेडकर ने शारदा कबीर— एक ब्राह्मण डॉक्टर— के साथ विवाह किया तो पटेल ने उन्हें लिखा, 'मुझे यकीन है अगर बापू जिन्दा होते उन्होंने आपको आशीर्वाद दिया होता'। आम्बेडकर ने जवाब दिया कि 'मैं सहमत हूँ कि अगर बापू जिन्दा होते, इसे आशीर्वाद जरूर देते' (दास, 1971, खंड, 6 : 302)।

इस तरह की बातचीत रॉय पर कोई प्रभाव नहीं डालती। उनके कठोर और निराशावादी दृष्टिकोण से संविधान, जो कि गांधी-आम्बेडकर के बीच यह सौहार्द और संविधान-सभा की चर्चाओं का परिणाम था, 'आम्बेडकर के विचारों की बजाय विशेषाधिकार-सम्पन्न उच्च जातियों के विचारों को प्रतिबिम्बित करता था' (पृ. 138)। वे इस बात से भी खिन्न दिखती हैं कि देश में आम्बेडकर की तमाम मूर्तियाँ उन्हें हाथ में संविधान पकड़े दिखाती हैं। इसके बजाय अगर उनका बस चलता तो वे उन्हें अनिहिलेशन ऑफ कास्ट पकड़े दिखाने को कहतीं (पृ. 44)।

इस अभिलाषा में कोई बुराई नहीं है। मगर रॉय का 1947 में गांधी, आम्बेडकर, नेहरू और पटेल के बीच बनी समझदारी को छिपा ले जाना, उनके लेख के प्रति हमारे सन्देह को मजबूत करता है।

रॉय 1931 में गांधी द्वारा दिये गये एक विशेष वक्तव्य को उद्धृत करती हैं :

यह कहा जा रहा है कि भारतीय स्वराज बहुसंख्या का राज होगा, यानी कि हिन्दुओं का। इससे बड़ी भूल कोई हो ही नहीं सकती... अगर यह सच होने वाला है तो मैं इसे स्वराज

कहने से इनकार कर दूँगा और जितनी ताकत मेरे पास है उतनी ताकत के साथ इसके खिलाफ लड़ूँगा, मेरे लिए हिन्द स्वराज का मतलब है सभी लोगों का राज, न्याय का राज।

लेकिन, रॉय जोड़ती हैं :

आम्बेडकर के लिए, 'लोग' कोई सजातीय श्रेणी नहीं थे (पृ. 45)। न ही वह गांधी के लिए थे। दोनों ही एक विविध और कई बार बुरी तरह बँटे हुए समाज के विभिन्न तबकों के बीच संघर्ष की अपरिहार्यता को पहचानते थे— भारतीयों के वर्गों और जातियों के बीच, भाषा, धर्म, सम्प्रदाय, या पार्टी के आधार पर बने समूहों के बीच। दोनों सहमत थे कि संघर्ष शान्तिपूर्ण ढंग से ही होना चाहिए— दृढ़प्रतिज्ञ, निडर और जोश से भरा हुआ। लेकिन हिंसक हरगिज नहीं, क्योंकि हत्या हमेशा संघर्ष के लक्ष्य को नुकसान पहुँचाती है। दलित-एकता, दलित-शिक्षा और दलित-वोट आम्बेडकर के लिए और गांधी के लिए भी वे हथियार थे जो लाठी या बन्दूक से कहीं बेहतर थे। जब एक कमजोर दलित द्वारा ये (लाठी या बन्दूक) प्रयोग किये जायें, तो वह केवल अपेक्षाकृत बेहतर ढंग से हथियारबन्द शत्रु के हाथ का खिलौना बन जाता है। दोनों ने महसूस किया था कि सामाजिक न्याय के संघर्ष का चरम आम तौर पर बातचीत और समझौता होता है, न कि विरोधी का समर्पण और किसी एक पक्ष की पूरी तरह पराजय। कड़वे अनुभवों के बावजूद, दोनों जानते थे कि एक संघर्ष में विरोधी, अन्य, भी एक इन्सान है, और न्याय मेलमिलाप के बिना कम ही टिकता है।

1932 का पूना पैक्ट और 15 साल बाद आजादी के वक्त गांधी-आम्बेडकर की साझेदारी, भारतीय समाज और राजनीति के लिए एक विजय थी और जो दो लोग इसमें शामिल थे,

**जनवरी और फरवरी 1947 में, वे और उनके मुट्ठी भर साथी, गाँव-गाँव भटक रहे थे। उन्होंने तकरीबन 47 रातें पूर्वी भारत के घरों में बितायीं, जहाँ उनके ज्यादातर मेजबान दलित थे। जिनमें धोबी, मछुआरे, मोची और जुलाहे शामिल थे। नोआखाली में गांधी ने उच्च जाति की हिन्दू औरतों से कहा कि अगर वे अछूतों का तिरस्कार जारी रखती हैं, तो अभी और दुःख भोगने बाकी हैं। चाँदीपुर गाँव की औरतों को उनके द्वारा एक क्रान्तिकारी सलाह दी गयी— 'एक हरिजन को रोजाना अपने साथ खाने पर आमन्त्रित करो।'**

उनके लिए भी। आपस में उनका समझौता भले ही तात्कालिक हो और उनके तर्क-वितर्क बहुत ज्यादा, लेकिन समझौते भारत के लिए यहाँ तक कि बाहर के लिए भी बेहद अहम थे।

## रॉय और मौखिक मोर्चाबन्दी

फरवरी 1946 में रॉयल इंडियन नेवी के भारतीय सैनिकों ने बम्बई में असफल विद्रोह किया (एक भी भारतीय अधिकारी ने उसका समर्थन नहीं किया था)। सैनिकों ने अरुणा आसफ अली से समर्थन की दरखास्त की। उस वक्त अरुणा आसफ अली और गांधी के बीच एक दिलचस्प बहस में हुई। 1942 के भारत छोड़ो संघर्ष की एक नायिका अली 1946 में कई दूसरे नेताओं की तरह हिन्दू-मुस्लिम मतभेदों को लेकर चिन्तित थीं। यह देखते हुए कि सैनिकों में हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल हैं, उन्होंने उत्साहित होकर कहा कि 'वे हिन्दुओं और मुसलमानों को संवैधानिक मोर्चे की बजाय उन्हें एक सीधी लड़ाई के मोर्चे पर एकजुट करना पसन्द करेंगी'। गांधी ने उनके इस तर्क का 26 फरवरी, 1946 को जवाब दिया :

हिंसा के सन्दर्भ में भी कहें तो यह एक भ्रामक रणनीति है... योद्धा हमेशा मोर्चे पर ही नहीं जीते हैं। वे इतने बुद्धिमान होते हैं कि आत्महत्या नहीं करेंगे। मोर्चे की जिन्दगी के बाद हमेशा संवैधानिक जिन्दगी आती है। यह (संवैधानिक) मोर्चा हमेशा वर्जित ही नहीं रहता। (गांधी वांगमय 83 :182-83)

मुझे सन्देह है कि रॉय मौखिक मोर्चाबन्दी की प्रेमी हैं। वे न्याय से प्रेम करती हैं और निःसन्देह बड़े चित्रात्मक ढंग से कमजोर लोगों के कष्टों का बखान कर सकती हैं। लेकिन वे समझौते पसन्द नहीं करतीं। वे मोर्चाबन्द लड़ाइयों को अनन्त काल तक चलाना चाहती हैं। मैं यह कह सकता हूँ क्योंकि मैं अभी भी 'द डॉक्टर एंड द सेंट' लिखने के पीछे उनके किसी सकारात्मक उद्देश्य की खोज कर रहा हूँ। इसमें कोई शक नहीं है कि वे भारत पर गांधी की जगह आम्बेडकर को 'मुख्य नायक' के तौर पर स्वीकार करने का दबाव बना रही हैं। भले ही, एक क्षण के लिए ही, हम कल्पना करें कि ऐसा कुछ हो। 'द डॉक्टर एंड द सेंट' में यहाँ-वहाँ वे आम्बेडकर में खामियाँ ढूँढ़ती नजर आती हैं— जैसे आम्बेडकर का आदिवासियों के प्रति दृष्टिकोण। वे जाति को नजरन्दाज करने के लिए भारतीय वामपन्थ की आलोचना करती हैं, पर साथ ही यह खेद भी जताती हैं कि आम्बेडकर ने भारतीय वामपन्थ के साथ किसी सतत गठबन्धन का विकास नहीं किया।

वे यह करने के लिए स्वतन्त्र हैं। इसके बावजूद, रॉय से यह पूछना जायज है— 'आपकी प्रेरणा, आपका नायक, आपकी

उम्मीद कौन है? वह कौन है जिसे आप भारत की धरती और उसकी दुनिया से असन्तुष्ट लोगों को अनुसरण करने को कहती हैं?'

अगर वे आम्बेडकर हैं, तो वे ऐसा क्यों नहीं कहतीं? अगर वह कोई और है, या एक से ज्यादा लोग हैं, तो रॉय को उनका नाम लेने दीजिये। या वे किसी दर्शन का नाम भी ले सकती हैं, किसी विचार का या किसी खास दृष्टिकोण का। या किसी राजनैतिक पार्टी का भी। आखिर वे अपने निबन्ध के दो आकर्षक व्यक्तित्वों से कुछ सीख सकती हैं, जो जानते थे कि उन्हें किसका विरोध करना है और साथ ही यह भी कि वे चाहते क्या हैं?

अगर रॉय जानती हैं कि वे भारत के लिए चाहती क्या हैं, उन्हें भविष्य की उस राह के संकेत देने चाहिए। बजाय इसके वे छलाँग मारकर और उछल-कूदकर उससे बच निकलती हैं, जिसे वे ऐतिहासिक आधार कहती हैं। आखिर संस्थापकों की विफलताओं के बिखरे हुए सन्देहास्पद 'निष्कर्ष' ही काफी नहीं होते।

चकरैया आन्ध्र के एक दलित थे, जिन्होंने गांधी को उनके सेवाग्राम आश्रम में बहुत प्रभावित किया था।

विशेष रूप से, सी. बी. खैरमोड़े द्वारा लिखी गयी आम्बेडकर की जीवनी में गोरे का उद्धरण देखें। जी. रामचन्द्रन के अनुसार, गांधी ने स्पष्ट रूप से आम्बेडकर को भारत के 'अछूतों' के प्रति अनिवार्य प्रायश्चित के तौर पर शामिल करने पर जोर दिया था।

आम्बेडकर की पहली पत्नी 1935 में गुजर गयी थीं।

## सन्दर्भ

आम्बेडकर, बी. आर. (1945): व्हाट काँग्रेस एंड गांधी हैव डन टू द अनटचेबल्स, बम्बई : थैकर्स।

— (2014): अनिहिलेशन ऑफ कास्ट, नयी दिल्ली : नवयाना। बिरला, जी. डी. (एनडी): टॉक ऑन बापू, कोलकाता।

दास, दुर्गा (सं.): (1971): सरदार पटेलस कॉर्रस्पॉन्डेंस, 10 वायलूमस, अहमदाबाद, नवजीवन।

गांधी, एम. के. (एनडी): कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी (गांधी वांगमय), 100 वायलूमस, नयी दिल्ली, पब्लिकेशन्स डिवीजन।

गांधी, राजमोहन, (1995): द गुड बोटमैन, नयी दिल्ली, पेंगुइन।

— (2006): मोहनदास, नयी दिल्ली : वाइकिंग।

अनुवाद—सौरभ वाजपेयी

इंपीडब्ल्यू, वॉल्यूम एल नम्बर 15, 11 अप्रैल, 2015  
मो. 07042220925

## कबीर

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पुस्तक 'पोएम्स ऑफ कबीर' की श्रीमती एवेलिन अण्डरहिल लिखित भूमिका है। रवि बाबू को कबीर बहुत प्रिय थे। उनका रहस्यभाव उन्हें विशेष रूप से आकर्षित करता था। उन्होंने कबीर की सौ कविताओं का अँग्रेजी में अनुवाद किया। वे कविताएँ 'पोएम्स ऑफ कबीर' नाम से 1915 में लन्दन से प्रकाशित हुईं। इस पुस्तक की लम्बी भूमिका 'इंट्रोडक्शन' नाम से अण्डरहिल ने लिखी।

एवेलिन अण्डरहिल (1875-1941) इंग्लैंड निवासी थीं। वे अँग्रेजी की लेखिका और कवयित्री थीं। लेकिन उन्हें विशेष प्रसिद्धि रहस्यवाद की विशेषज्ञ के रूप में मिली। यूरोपीय रहस्यवाद की तो वे अधिकारी विदुषी मानी जाती हैं। अपने समकालीन बौद्धिकों के बीच रहस्यात्मक ब्रह्म-विज्ञान को एक प्रतिष्ठित अनुशासन बनाने में उन्होंने ऐतिहासिक भूमिका निभायी। कविता-संग्रहों के अतिरिक्त उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं- 'मिस्टिसिज्म', 'दि मिस्टिक वे', 'वरशिप', 'मैन एंड दि सुपरनेचुरल', 'दि मिस्ट्री ऑफ सेक्रिफाइस' आदि। मिस्टिसिज्म (1911) उनकी सर्वाधिक चर्चित और विश्व प्रसिद्ध पुस्तक है।

'पोएम्स ऑफ कबीर' में प्रायः वे कविताएँ हैं, जिनका सम्बन्ध कबीर की रहस्य-भावना से है। विषय की माँग और रहस्यवाद में अपनी विशेष दिलचस्पी के कारण अण्डरहिल ने कबीर की रहस्य-भावना के गहन विवेचन के साथ उसकी बहुत-सी ऐसी विशेषताएँ खोज निकाली हैं, जिनको हिन्दी आलोचकों ने प्रायः नहीं देखा है। सामाजिक सन्दर्भों से जुड़ी कबीर की कविताओं की बड़ी चर्चा होती है। लेकिन सामाजिकता के आग्रही आलोचकों के लिए भी कबीर की रहस्य-भावना का कोई सुसंगत सामाजिक आधार खोजना प्रायः मुश्किल होता है। बहुत-से लोगों का आज भी यह विचार है कि रवीन्द्रनाथ और अण्डरहिल ने 'पोएम्स ऑफ कबीर' के जरिये कबीर की रहस्यवादी मूर्ति गढ़ने की कोशिश की। अण्डरहिल का प्रस्तुत लेख इस दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व का है कि इसमें सम्भवतः पहली बार कबीर के रहस्यवाद के सामाजिक सन्दर्भों को बहुत हद तक समझने की कोशिश दिखाई पड़ती है। कबीर के रहस्यवाद के इस विश्लेषण से हिन्दी के विद्वान तो परिचित हैं, लेकिन पुस्तक की अनुपलब्धता के कारण अब आम पाठकों के लिए यह आसानी से सुलभ नहीं है। प्रस्तुत अनुवाद का उद्देश्य कबीर की छह सौवीं जयन्ती के अवसर पर कबीर सम्बन्धी इस दुर्लभ चर्चा की याद को ताजा करना है।

रहस्य-भावना प्रत्यक्ष सच्चाई नहीं, बल्कि व्यक्तिगत भाव और अनुभूति है। व्यक्तिगत भाव और अनुभूति भी सामान्य स्तर की नहीं, विशेष स्तर की। कबीर की गहन रहस्य-भावना का रहस्यवाद की एक विदुषी लेखिका द्वारा अँग्रेजी भाषा में किया गया यह गहन अध्ययन अपने अनुवाद कार्य के लिए जिस गहन धैर्य, योग्यता और सहानुभूति की माँग करता है, वह मुझमें नहीं है। फिर भी कबीर के प्रति प्रेम के कारण इस कार्य को पूरा करना पड़ा। कबीर की साधना और उनके प्रतीकों को समझना जितना कठिन है उतना ही कठिन



एवेलिन अण्डरहिल

कबीर एक महान धार्मिक सुधारक और एक पन्थ के संस्थापक थे, जिससे लाखों उत्तर भारतीय हिन्दू आज भी जुड़े हैं। कबीर अब भी एक गहरे रहस्यवादी कवि के रूप में हमारे सामने हैं।

है किसी विदेशी व्यक्ति द्वारा किये गये अध्ययन को हिन्दी पाठकों के लायक बनाना। श्रीमती अण्डरहिल ने यह भूमिका यूरोप के पाठकों को ध्यान में रखकर लिखी थी। उन्होंने सूफी और ईसाई रहस्यवादियों से तुलना करते हुए कबीर की जो व्याख्या की है, उसे निर्विवाद नहीं कहा जा सकता। जिस देश-काल की वे उपज थे, उससे भिन्न देश-काल और भाषा में किया गया अध्ययन निर्विवाद हो भी नहीं सकता। अण्डरहिल ने रहस्य-भावना की व्याख्या के लिए अँग्रेजी भाषा में जिस संश्लिष्ट शैली का प्रयोग किया है, वह हिन्दी भाषा के प्रकृति के मेल में नहीं। अनुवाद में मूल वाक्य को बार-बार तोड़ना पड़ा है। कुछ शब्द अँगरेजी में जो अर्थ देते हैं, हिन्दी में वह अर्थ नहीं होता। इन सारी कठिनाइयों के साथ यह अनुवाद कार्य किया। कहीं-कहीं मूल शब्द को कोष्ठक में रख दिया गया है। कुछ जगह अधिक स्पष्टता के लिए कोष्ठक में अपनी ओर से हिन्दी शब्द दे दिये गये हैं—अनुवादक

1

कबीर भारतीय रहस्यवाद के इतिहास में सर्वाधिक दिलचस्प व्यक्तियों में से एक हैं। उनके गीतों का यह संग्रह अँग्रेजी पाठकों के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है। बनारस में या उसके आस-पास मुसलमान माता-पिता के घर 1440 ई. के लगभग पैदा होने वाले कबीर जीवन के प्रारम्भ में ही प्रख्यात हिन्दू सन्त रामानन्द के शिष्य हो गये थे। जिस धार्मिक नवजागरण की शुरुआत 12वीं शताब्दी के महान ब्राह्मणवादी सुधारक रामानुज ने दक्षिण (भारत) में की थी, उत्तर में उसे रामानन्द ले आये। यह नवजागरण अंशतः सनातनी पूजा-पद्धति के रीतिवाद के फैलाव के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया था। यह (नवजागरण) अंशतः वेदान्त-दर्शन के तीव्र बुद्धिवाद के विरुद्ध हृदय के पुकार पर जोर दे रहा था। वेदान्त दर्शन के तीव्र बुद्धिवाद का दावा अतिरंजना के साथ अद्वैत दर्शन में था। रामानुज के उपदेशों में भगवान विष्णु के प्रति तीव्र भक्तिभाव ईश्वरीय सृष्टि की निजी अवधारणा के रूप में प्रकट हो रहा था। वह रहस्यात्मक 'प्रेम का धर्म' आध्यात्मिक संस्कृति के निश्चित सतह पर फैला है। उसके सिद्धान्त और दर्शन अहिंसक हैं। यद्यपि हिन्दू धर्म में ऐसी भक्ति-भावना पहले से है और इसकी अभिव्यक्ति 'भगवद्गीता' के बहुत से अनुच्छेदों में मिलती है, तथापि मध्यकालीन नवजागरण में इसके समन्वय का बड़ा तत्त्व मौजूद था। कहा जाता है कि रामानन्द के माध्यम से भक्ति की भावधारा कबीर तक आयी। रामानन्द व्यापक धार्मिक संस्कृति और मिशनरी उत्साह के व्यक्ति थे।

जब महान फारसी रहस्यवादी अतर, सादी, जलालुद्दीन और हाफिज की भावावेगपूर्ण कविता और गम्भीर दर्शन भारतीय धार्मिक चिन्तन को जोरदार ढंग से प्रभावित कर रहा था, रामानन्द ने ब्राह्मणवाद के परम्परित ब्रह्म-विज्ञान के साथ इस तीव्र और व्यक्तिगत मुसलमानी रहस्यवाद के मेल-मिलाप का सपना देखा। कुछ लोगों का मानना है कि ये दोनों धार्मिक नेता (फारसी रहस्यवादी और रामानन्द) ईसाई चिन्तन और जीवन से भी प्रभावित हैं। लेकिन इस मुद्दे पर सक्षम विद्वानों में व्यापक मतभेद हैं। इसलिए इस विवाद को यहाँ नहीं उठाया जा रहा है। फिर भी हम दावा कर सकते हैं कि उनकी शिक्षाओं में दो या तीन स्पष्टतः प्रतिकूल तीव्र आध्यात्मिक-सांस्कृतिक धाराएँ मिलती हैं, जैसे— यहूदी और यूनानी चिन्तन का ईसाई गिरजाघरों में मेल हुआ था। कबीर की प्रतिभा की उत्कृष्ट विशिष्टताओं में से एक यह है कि वे अपनी कविता में उन सबका समन्वय करने में समर्थ हुए।

कबीर एक महान धार्मिक सुधारक और एक पन्थ के संस्थापक थे, जिससे लाखों उत्तर भारतीय हिन्दू आज भी जुड़े हैं। कबीर अब भी एक गहरे रहस्यवादी कवि के रूप में हमारे सामने हैं। 'सत्य' को अभिव्यक्त करने वाले, धार्मिक एकान्तवाद से घृणा करने वाले और मनुष्य को भगवान की सन्तान मानकर उसे समता की प्रतीति कराने वाले इस व्यक्ति की नियति यह है कि जिन बन्धनों को तोड़ने का उन्होंने जीवन-भर कठोर यत्न किया, उन्हीं बन्धनों में उन्हें बाँधकर उनके अनुयायियों ने उन्हें सम्मानित किया है। लेकिन उनके अद्भुत गीत, उनकी दृष्टि और प्रेम के अबाध प्रवाह के कारण, न कि उनके नाम पर चलने वाले शिक्षात्मक उपदेशों के कारण आज भी जीवित हैं। उनकी अमर वाणी दिल को छू जाती है। उनकी कविता में रहस्य-भावना की व्यापक अभिव्यक्ति हुई है। उनकी अक्खड़ तन्मयता, असीम के प्रति अन्यतम लौकिक आवेग और ईश्वर की अत्यन्त आत्मीय निजी अनुभूति हिन्दू और मुसलमानी आस्था से प्राप्त घरेलू रूपकों एवं धार्मिक प्रतीकों में व्यक्त हुई है। उन कविताओं के रचयिता के बारे में यह कहना मुश्किल है कि वह ब्राह्मण था या सूफी, वेदान्ती था या वैष्णव, क्योंकि उन्होंने खुद अपने बारे में कहा है कि 'वे एक साथ अल्लाह और राम की सन्तान हैं।' वह 'परम सत्ता' जिसे वे जानते थे और जिसकी आराधना करते थे तथा जिसकी आनन्दपूर्ण मैत्री (छवि) दूसरों की आत्मा में देखते थे, अनुभवातीत है। 'उसमें' सभी आध्यात्मिक कोटियाँ तथा सारी धार्मिक परिभाषाएँ समाहित हैं। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति ने उस असीम और अनलंकृत

समष्टि को कुछ हद तक उपलब्ध किया है। 'जो' उनके मापदंडों के अनुसार अपने-आपको धर्ममतों के श्रद्धालु प्रेमियों के लिए प्रकट करता है।

कबीर का जीवन परस्पर विरोधी किंवदन्तियों से भरा हुआ है, जिनमें से किसी पर भी भरोसा नहीं किया जा सकता। इनमें से कुछ हिन्दू स्रोतों और कुछ मुसलमानी स्रोतों से निकली हैं। वे किंवदन्तियाँ कबीर को कभी सूफी तो कभी ब्राह्मण सन्त बताती हैं। फिर भी उनका नाम अन्तिम रूप से व्यावहारिक रूप में उनके मुसलमान होने का अन्तिम प्रमाण है। सर्वाधिक प्रचलित कहानी उन्हें बनारस के मुसलमान बुनकर की असली या गोद ली गयी सन्तान के रूप में प्रस्तुत करती है। बनारस शहर में ही उनके जीवन की प्रमुख घटनाएँ घटित हुईं।

पन्द्रहवीं शताब्दी तक बनारस में भक्ति धर्म की समन्वयवादी प्रवृत्तियाँ पूरे उत्कर्ष पर थीं। सूफी और ब्राह्मण शास्त्रार्थ करते हुए दिखते हैं। दोनों धर्ममतों के सर्वाधिक धार्मिक लोग रामानन्द की शिक्षाओं के निरन्तर सम्पर्क में हैं। उस समय रामानन्द की प्रसिद्धि अपने शिखर पर थी। कबीर में धार्मिक भाव जन्मजात था। बालक कबीर ने रामानन्द को भगवान द्वारा नियत गुरु के रूप में देखा। लेकिन एक हिन्दू गुरु एक मुसलमान को शिष्य के रूप में स्वीकार करेगा, इसके संयोग बहुत कम थे। यह बात उन्हें मालूम भी थी, इसलिए वे गंगा नदी की सीढ़ियों पर छिप गये। रामानन्द वहाँ स्नान करने के अभ्यस्त थे। पानी की ओर नीचे आते समय स्वामी जी का कबीर के शरीर से अप्रत्याशित ढंग से स्पर्श हुआ। वे विस्मय से चिल्ला उठे— 'राम! राम!' रामानन्द राम की पूजा भगवान के अवतार के रूप में करते थे। उसके बाद कबीर ने घोषणा की कि रामानन्द के मुँह से उन्हें दीक्षा का मन्त्र मिल गया है और उन्होंने रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया है। कट्टरपन्थी ब्राह्मण और मुसलमान दोनों समान रूप से कबीर के ईश्वरीय मीमांसा सम्बन्धी काम को अवज्ञा मानते थे। उनके विरोध के बावजूद कबीर अपनी बात पर डटे रहे। इस तरह उन्होंने क्रिया रूप में नए धर्म (रिलीजियस-सिन्थेसिस) के उस सिद्धान्त का प्रचार किया, जिसे रामानन्द ने अपने चिन्तन में स्थापित किया था। रामानन्द उनके गुरु के रूप में दिखते हैं, यद्यपि मुसलमानी किंवदन्ती झाँसी के प्रसिद्ध सूफी पीर तकी को उनके जीवन के उत्तरार्ध का उस्ताद मानती है। लेकिन हिन्दू सन्त ही मानव रूप में



उनके गुरु दिखते हैं, जिनके प्रति अपने गीतों में उन्होंने श्रद्धा व्यक्त की है।

कबीर के बारे में हमें जो थोड़ी-सी जानकारी है, वह उस प्राच्य रहस्यवादी से सम्बन्धित तत्कालीन बहुत-सी धारणाओं का खंडन करती है। साधना के वे सोपान जिनसे वे गुजरे, वे तौर-तरीके जिनमें उनकी धार्मिक प्रतिभा विकसित हुई, उनसे हम पूरी तरह से अनभिज्ञ हैं। वे वर्षों रामानन्द के शिष्य रहे। रामानन्द अपने समय के सभी महान मुल्लाओं और ब्राह्मणों से ब्रह्म-विज्ञानी और दार्शनिक शास्त्रार्थ करते थे। इस आधार पर शायद हम कबीर की हिन्दू और सूफी दर्शन से सम्बन्ध की जानकारी पा सकते हैं। हो सकता है कि हिन्दू या सूफी ध्यान-मनन की परम्परागत शिक्षा उन्हें मिली भी हो और नहीं भी। लेकिन यह स्पष्ट है कि उन्होंने पेशेवर संन्यासी का जीवन ग्रहण नहीं किया था या ध्यानशीलता, तप एवं विशिष्ट खोज में अपने-आपको समर्पित करके वे संसार

से विरक्त नहीं हुए थे। वे कुशल संगीतज्ञ और कवि थे। उनकी आराधना के अन्तरंग जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति उनके संगीत और कविता में हुई है। वे स्वस्थचित्त और मेहनती स्वभाव के पूरबिया दस्तकार थे। सभी किंवदन्तियाँ इस बात पर एकमत हैं कि कबीर बुनकर थे। वे अपनी जीविका करघा से चलाते थे। वे एक निरक्षर आदमी थे। टेंट निर्माता पॉल, मोची बोहो, ठठेरे बनियन की तरह वह जानते थे कि विजन और उद्योग का मिलान कैसे किया जाता है। ध्यान के भाव में विघ्न डालने की अपेक्षा उनका हस्तशिल्प इसमें मदद करता था। शरीर मात्र को कष्ट देने वाले तप से उन्हें घृणा थी। वे

**उन्होंने पेशेवर संन्यासी का जीवन ग्रहण नहीं किया था या ध्यानशीलता, तप एवं विशिष्ट खोज में अपने-आपको समर्पित करके वे संसार से विरक्त नहीं हुए थे। वे कुशल संगीतज्ञ और कवि थे। उनकी आराधना के अन्तरंग जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति उनके संगीत और कविता में हुई है। वे स्वस्थचित्त और मेहनती स्वभाव के पूरबिया दस्तकार थे।**

घरेलू जीवन की तथा दैनिक अस्तित्व के महत्त्व और यथार्थ की वे बार-बार प्रशंसा करते हैं। पेशेवर योगी की पवित्रता की अवहेलना करते हुए वे कहते हैं—‘योगी ने लम्बी दाढ़ी बढ़ा रखी है और उसकी जटाएँ उलझी हुई हैं। इस कारण वह बकरे की तरह दिखता है।’ वह योगी इससे भी आगे बढ़कर प्रेम, खुशी और सुन्दरता से बने संसार से पलायन कर जाना चाहता है। उस संसार से, जो आदमी की खोज की सबसे उपयुक्त जगह है। उस ‘सत्य’ को नहीं पाया जा सकता है। इस सम्पूर्ण संसार में उसके प्रेम की जोत फैली हुई है।

वैसे देश-काल में उस निडर और मौलिक मनोवृत्ति की पहचान के लिए सन्त-साहित्य के अधिक ज्ञान की जरूरत नहीं है। हिन्दू या मुसलमान दोनों तरह की कट्टरपन्थी पवित्रता के लिहाज से कबीर विशुद्ध विधर्मी थे। सभी सांस्थानिक धर्मों और बाह्याचारों को वे उसी तीव्रता और सम्पूर्णता में नकारते थे, जैसे क्वैकर्स नकारते थे। जहाँ तक इनके धार्मिक

विचारों का सवाल है, उनकी छवि एक खतरनाक आदमी की थी। ‘अलौकिक सत्य’ के साथ ‘सहज समाधि’ का उन्होंने निरन्तर गुणगान किया। वह ‘अलौकिक सत्य’ प्रत्येक आत्मा की खुशी और कर्तव्य में है। वह कर्मकांड और शारीरिक तप दोनों से परे है। उनका भगवान न तो काबा में है, न कैलास में। जिन्हें उसकी खोज है, उन्हें दूर जाने की जरूरत नहीं। वह हर कहीं है। एक स्वयंसिद्ध पवित्र आदमी की तुलना में ‘एक धोबी और एक बढ़ई’ में उसे ढूँढ़ना अधिक आसान है। इसलिए हिन्दू और मुसलमान दोनों की धर्मपरायणता के सारे उपकरणों—मन्दिर और मस्जिद, मूर्ति और पवित्र जल तथा धर्मग्रन्थ और पुजारी का समान रूप से इस विद्रोही कवि ने खंडन किया। उन्होंने आत्मा और प्रेम के मध्य आने वाली सभी मृत चीजों का तिरस्कार किया है—

सारे बिम्ब जीवनहीन हैं,  
वे बोल नहीं सकते,  
मैं जानता हूँ,  
उनके लिए मैं बहुत रोया,  
पुराण और कुरआन शब्द मात्र हैं,  
परदा उठाकर मैंने सब देखा है।

इस तरह की बात किसी संगठित मठ के द्वारा बर्दाश्त नहीं की जा सकती। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पुजारी प्रभावित अपने कर्म-क्षेत्र बनारस में कबीर उत्पीड़ित किये गये हों। एक बहुज्ञात किंवदन्ती के अनुसार ब्राह्मणों ने एक सुन्दर गणिका को उनके पास उन्हें लुभाने और परिवर्तित करने के लिए भेजा था—मैगाडाले की तरह। उच्च प्रेम के स्रष्टा से उस गणिका का अचानक मिलन इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन धार्मिक शक्तियाँ कितने भय और अनादर से कबीर को देखती थीं। कम-से-कम एक बार किसी को स्वस्थ कर देने के काल्पनिक चमत्कार की उपलब्धि के बाद उन्हें बादशाह सिकन्दर लोदी के पास लाया गया और दैवीय शक्ति के वाहक का दावा करने वाले के रूप में आरोपित किया गया। लेकिन सिकन्दर लोदी एक महत्त्वपूर्ण संस्कृति का राजा था। अपनी निजी आस्था से सम्बन्धित मौजी प्रकृति के सन्त लोगों के प्रति उदार था। जन्मना मुसलमान कबीर ब्राह्मण धर्माधिकारियों के लिए बाहरी और सूफियों के वर्ग के थे, जिन्हें महान ब्रह्मविज्ञानी स्वातन्त्र्य प्राप्त था। यद्यपि शान्ति कायम रखने के लिए उन्हें बनारस से निर्वासित कर दिया गया था, फिर भी वे अपने काम में लगे रहे। यह घटना 1495 ई. की लगती है, जब वे साठ के करीब थे। उनके जीवन की यह अन्तिम घटना है, जिसकी हमें निश्चित जानकारी

है। तत्पश्चात् वे उत्तर भारत के नगरों में घूमते हुए दिखाई देते हैं। वे नगर उनके शिष्यों के केन्द्र-स्थल हैं। प्रेम के प्रचारक और कवि के रूप में उन्होंने अपना निर्वासित जीवन व्यतीत किया। प्रेम, जिसके बारे में अपने एक गीत में वे कहते हैं, 'काल के प्रारम्भ से' वह नियत है। अब वे बूढ़े और कमजोर हो गये थे। उनके हाथ इतने दुर्बल हो गये थे कि वे अपना प्रिय वाद्य भी नहीं बजा सकते थे। 1518 में गोरखपुर के नजदीक मगहर में उनकी मृत्यु हो गयी।

एक बहुत खूबसूरत किंवदन्ती है कि उनकी मृत्यु के बाद उनके हिन्दू और मुसलमान शिष्यों में उनके शव के स्वामित्व को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ। मुसलमान शिष्य दफनाना चाहते थे तो हिन्दू शिष्य जलाना। वे जब आपस में बहस कर रहे थे, तब कबीर उनके सामने प्रकट हुए और उनसे कहा कि वे कफन उठायेँ और नीचे देखें कि क्या कुछ पड़ा है। उन्होंने ऐसा ही किया और पाया कि वहाँ फूलों का ढेर है। उसमें से आधा मुसलमानों ने मगहर में दफनाया और आधा हिन्दू बनारस जलाने के लिए ले आये। दो महान धर्मों के सर्वाधिक सुन्दर सिद्धान्तों को सुगन्धित बनाने वाले व्यक्ति के कर्मरत जीवन का यह उपसंहार था।

2

एक तरह से रहस्यवादी कविता 'सत्य-दर्शन' के प्रति स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में परिभाषित की जा सकती है, दूसरी ओर यह भविष्यवाणी का एक रूप है। दो बिन्दुओं को मिलाने वाली रहस्यवादी चेतना की यह विशेष खासियत है। ऊपरी तौर पर यह ईश्वर की आराधना है, लेकिन आन्तरिक रूप से पारलौकिक जीवन के रहस्यों की दूसरे लोगों के लिए अभिव्यक्ति है। इसलिए इस चेतना की कलात्मक अभिव्यक्ति दोहरे चरित्र की है। यह प्रेम-कविता है, लेकिन ऐसी प्रेम कविता, जो प्रायः मिशनरी उद्देश्य से लिखी जाती है।

कबीर के गीत हर्षातिरेक और प्रेम से भरे हैं। वे साहित्यिक भाषा में नहीं, लोकप्रिय हिन्दी में लिखे गये हैं। जाको पॉल दा तोदी और रिचार्ड रॉल की देसी भाषा में लिखी कविताओं की तरह कबीर ने अपने गीत जान-बूझकर जनता को सम्बोधित करके लिखे। उन्होंने पेशेवर धार्मिक वर्ग को सम्बोधित करके नहीं लिखा। सामान्य जीवन से लिए गये बिम्बों से वे प्रभावित हैं। वे गीत सार्वदेशिक अनुभवों से भरे हैं। अत्यन्त ईमानदार अपील से भरे ये गीत सरलतम रूपकों में हैं। ऐसे आवेग और सम्बन्ध से भरे रूपक, जिन्हें हर कोई जानता है, जैसे दूल्हा-दुल्हन, गुरु-शिष्य, तीर्थयात्री, किसान तथा प्रवासी पक्षी यानी आत्मा (हंसा)। आत्मा और परमात्मा का संयोग

अनुभवातीत है। यह हंसा सच्चे और तीव्र विश्वास के साथ हमें घर (ईश्वर के) जाने के लिए प्रेरित करता है। उसकी दुनिया में 'लोक' और 'लोकोत्तर' के बीच कोई दीवार नहीं है। प्रत्येक वस्तु ईश्वर की लीला है, इसलिए हर वस्तु यहाँ तक कि विनम्रतम प्रार्थना भी सृष्टिकर्ता के मन के रहस्य को व्यक्त करने में सक्षम है।

महानतम रहस्यवादियों की यह सामान्य विशेषता है कि अलौकिक सच्चाइयों को प्रस्तुत करने के लिए वे भौतिक साधनों का प्रयोग करते हैं। जब वे अन्ततः सच्ची समाधि प्राप्त कर लेते हैं, तब उनके लिए सृष्टि की सारी चीजें समान अधिकार से युक्त हो जाती हैं। समान अधिकार यानी भगवान की उपस्थिति की सांस्कारिक घोषणाएँ। घरेलू एवं शारीरिक प्रतीकों का उनका निर्भय

*वे अपनी जीविका करघा से चलाते थे। वे एक निरक्षर आदमी थे। टेंट निर्माता पॉल, मोची बोहो, ठठेरे बनियन की तरह वह जानते थे कि विजन और उद्योग का मिलान कैसे किया जाता है। ध्यान के भाव में विघ्न डालने की अपेक्षा उनका हस्तशिल्प इसमें मदद करता था। शरीर मात्र को कष्ट देने वाले तप से उन्हें घृणा थी।*

नियोजन तथा प्रायः आश्चर्यजनक और अनभ्यस्त स्वाद के प्रति विद्रोह भी उनके आध्यात्मिक जीवन के आनन्दातिरेक के प्रत्यक्ष हिस्से हैं। महान सूफियों और जाको पॉल दा तोदी, रुजब्रोक, बोहो जैसे ईसाइयों के साहित्य इस तरह के चित्रों से भरे हुए हैं। इसलिए हमें कबीर के गीतों में उनकी भाव समाधि की अभिव्यक्ति के दुःसाहसी प्रयास को देखकर आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए। ठोस एवं आध्यात्मिक भाषा के निरन्तर सान्निध्य के जरिए वे दूसरों को भी इस अनुभव के लिए राजी करते हैं। इस एकान्तरण के लिए स्वाभाविक तौर पर मन को बदलना जरूरी है, जिससे आदमी काम लेता है। मन में ही पुराने बोध जड़ जमाये हुए हैं। इसे हम ठीक से समझने का प्रयास करें तो उनकी कविता हमारी समझ से दूर नहीं होगी। कबीर सर्वोच्च रहस्यवादियों के उस छोटे-से समूह में परिगणित हैं जिनमें सन्त अगस्थिन, रुजब्रोक और सूफी शायर जलालुद्दीन रूमी आदि प्रमुख हैं। उन्होंने वह उपलब्ध किया है, जिसे ईश्वर का संश्लेष विजन कहा जा सकता है। उन्होंने ईश्वर की वैयक्तिक और अवैयक्तिक, अनुभवातीत और अन्तस्थ, स्थिर और गतिशील अवधारणाओं तथा दर्शन की 'परम सत्ता' एवं भक्ति धर्म के 'सच्चे मित्र' के मध्य

निरन्तर विरोध देखा है। एक के बाद दूसरी असंगत अवधारणाओं को स्पष्टतया अपनाकर उन्होंने यह नहीं किया है, बल्कि एक आध्यात्मिक लोक, जिसके वे वासी हैं, की उच्चता का आरोहण करके ऐसा किया है। रुजब्रोक ने जैसा कहा है—एक सत्ता में मिलना और समाहित होना, पूर्ण समग्रता के विरोधों को आत्मसात करते हुए महसूस करना है। यह काम दोनों के लिए अपरिहार्य है। कबीर और रुजब्रोक इसके प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं। उनके अनुसार सृष्टि के तीन क्रम हैं—‘जो हो रहा है’, ‘जो है’ और उनसे ‘अधिक जो होने वाला है’। यही तीनों क्रम ईश्वर हैं। भगवान जो अनुभूत होता है, वह कोई अन्तिम कल्पना नहीं, बल्कि एक वास्तविकता है। वह प्रेरित करता है, वह सहारा देता है और वह सचमुच में है। अस्तित्व ग्रहण करता हुआ ससीम संसार और अस्तित्वमान असीम संसार दोनों अपनी वास्तविकताओं के बावजूद अनुभवातीत हैं। वह सर्वव्यापी परम सत्य है, जिसमें ‘सब कुछ व्याप्त’ है। उसमें दुनिया माया की तरह है। उनकी व्यक्तिगत अवधारणा में ‘वह’ प्रियतम है जो प्रत्येक आत्मा को शिक्षित करने वाला और जोड़ने वाला साथी है। अन्तर्यामी शक्ति के रूप में मान्य वह ‘योगियों का योगी’ है। लेकिन ये सभी उसकी प्रकृति के श्रेष्ठ आंशिक रूप हैं, जो परस्पर दोष निवारक हैं। त्रिक के ईसाई सिद्धान्तों से यह ब्रह्म-विज्ञानी रेखालेख (डायग्राम) अदभुत सादृश्य रखता है। ईसाई सिद्धान्त के ये लोग ‘शाश्वत एकता’ के ऐसे भिन्न और पूर्ण अनुभवों के रूप में व्यक्त करते हैं, जिसमें वे समाहित हैं। जैसे—रुजब्रोक यथार्थ का एक धरातल देखता है, जिस पर हम ‘पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा’ के बारे में अधिक कुछ नहीं कह सकते हैं। हम अधिक-से-अधिक उस ‘एक अस्तित्व’ को अनुभव करते हैं। उन अमर लोगों का सार यह है कि वह एक अस्तित्व है। इसलिए कबीर कहते हैं कि असीम और ससीम दोनों के परे शुद्ध यथार्थ ‘वही’ है।

ब्रह्म एक अनिर्वचनीय तथ्य है, जिसकी तुलना ‘प्रति अनुकूलित-अनुकूलित भिन्नता से की गयी है। वह मात्र एक शब्द है।’ एक नजर में वह पूर्ण अनुभवातीत एवं भाववादी दर्शन है। वह हमारी आत्मा का प्रेमी है। वह सबके प्रति समान और प्रत्येक के प्रति विशेष है, जैसा कि एक ईसाई रहस्यवादी के लिए होता है। यथार्थ वर्णन के लिए इन दोनों रास्तों की आवश्यकता का कबीर द्वारा महसूस किया जाना उनके आध्यात्मिक अनुभव की समृद्धि और सन्तुलन का प्रमाण है, जिसे न तो दैवीय और न मानवतारोपी प्रतीक अकेले व्यक्त कर सकते हैं। अतः ब्रह्म-दर्शन की सभी अवधारणाओं

और सभी भावपूर्ण अन्तर्ज्ञानों से युक्त हो जाने पर वह पूर्ण से अधिक पूर्ण और मानव मस्तिष्क से अधिक अपना है। वह एक महान शब्द का केन्द्र, जीवन और प्रेम का माध्यम तथा इच्छा की अदभुत तुष्टि है। उसका रचनात्मक शब्द ‘ओम’ या ‘अनन्त हाँ’ है।

दैवीय प्रकृति से निकलने वाले नकारात्मक दर्शन के सारे गुण ईश्वर को उस रूप में वर्णित करते हैं जो वह नहीं है। वे उसे ‘रिक्तता’ के स्तर तक घटा देते हैं। यह बात इस महान कवि के लिए घृणित वस्तु है। कबीर कहते हैं— ‘ब्रह्म निराकार में कभी नहीं पाया जा सकता।’ उसके प्रेम की ज्योति संसार में व्याप्त है। उसकी पूर्णता को सिर्फ प्रेम की आँखों से देखा जा सकता है। उसे जानने वाले इसी रूप में उससे तादात्म्य स्थापित करते हैं, यद्यपि वे उसे व्यक्त नहीं करते। वह आनन्दपूर्ण एवं अनिर्वचनीय रहस्य है।

कबीर दैवीय प्रकृति की निजी और ब्रह्मांडीय अवधारणा के बीच संश्लेषण करके उन तीन खतरों से बच निकलते हैं, जो रहस्यात्मक धर्म के लिए अहितकर हैं।

प्रथम, वे अतिशय भावुकता से बचते हैं। भावुकता एक विशेष मानवतारोपी समर्पण की प्रवृत्ति है, जो दैवीय व्यक्तित्व के अनियन्त्रित रूप का परिणाम है—विशेष रूप से अवतारी रूप के अन्तर्गत, जो भारतवर्ष में कृष्ण आराधना की अतिशयोक्ति में तथा यूरोप में कुछ विशेष ईसाई सन्तों की भावुकतापूर्ण उच्छृंखलताओं में दिखता है।

दूसरे, वे शुद्ध अद्वैत के आत्महन्ता निष्कर्षों से बचते हैं। यद्यपि आत्यन्तिक रूप से तार्किक अद्वैत का आशय एकता पर बल देता है। यह आत्मा और परमात्मा के बीच एकता का तत्त्व है। आध्यात्मिक जीवन के उद्देश्य के रूप में एक पूर्ण अद्वैतवादी के लिए आत्मा सत्य है और तत्त्वतः ईश्वर से अभिन्न है। मनुष्य का सच्चा ध्येय अव्यक्त पहचान का प्रत्यक्षीकरण है। वह प्रत्यक्षीकरण ही अद्वैतवादी सिद्धान्त सूत्र की अभिव्यक्त अनुभूति है। उस अनुभूति की कला ही ईश्वर है। लेकिन कबीर कहते हैं— ब्रह्म और जीव ‘सदा पृथक् हैं और अन्ततोगत्वा सदा संयुक्त हैं।’ आदमी के लिए आध्यात्मिक और साथ-ही-साथ भौतिक जगत की पहचान ईश्वर की पाद-पीठ से अधिक नहीं है। ईश्वर के साथ आत्मा का संयोग प्रेम का संयोग है। दोनों का परस्पर निवास आवश्यक है। द्वैत सम्बन्ध जिसे सभी रहस्यात्मक धर्म व्यक्त करते हैं, ऐसा आत्म-विसर्जन नहीं, जिसमें व्यक्तित्व के लिए कोई स्थान नहीं हो। शाश्वत पृथक्ता तथा ईश्वर और आत्मा के पृथक्त्व में रहस्यात्मक मेल सन्तुलित रहस्यवाद का

आवश्यक सिद्धान्त है। जो आस्था इस पृथकता और संयोग के रहस्य को नहीं मानती, वह आत्मा के आध्यात्मिक संसार में विलय का अंश मात्र भी नहीं व्यक्त कर सकती। इसका अभिकथन (समर्थन) रामानुज द्वारा उपदेशित वैष्णवी सुधार का विशिष्ट गुण है, जिसकी नीतियाँ रामानन्द के जरिये कबीर तक पहुँचीं। अन्तिम, प्रेम की सर्वोच्च सत्ता के रूप में ईश्वर का प्रत्यक्ष एवं उष्मिमत मानवीय बोध तथा आत्मा के साथी, शिक्षक और दूल्हा के रूप में उसका बोध कबीर की कविता में आवेगपूर्ण ढंग से निरन्तर अभिव्यक्त हुआ है। ये भाववादी प्रवृत्तियाँ उनकी यथार्थ दृष्टि के आध्यात्मिक पक्ष का जन्मजात गुण हैं, जो उसे बौद्धिक सूत्र की निष्प्राण पूजा में विकृत होने से रोकती हैं। निष्प्राण पूजा वेदान्ती स्कूल का अभिशाप हो गयी थी। निरी बौद्धिकता और निरी भक्तिमूलकता का वे कम समर्थन करते हैं। प्रेम उनका 'एकमात्र पूर्ण स्वामी' है। वह अधिक स्वच्छन्द जीवन का अद्भुत स्रोत है, जिसका वे आनन्द लेते हैं। वह असीम और ससीम संसार को मिलाने का सामान्य कारक तत्व है। सब-कुछ उसके प्रेम में सराबोर है। प्रेम जिसका वर्णन जोहानिन की भाषा में प्रायः ईश्वर के रूप में किया गया है। सारी सृष्टि शाश्वत प्रेमी की लीला है। जीवित होना, परिवर्तित होना तथा विकसित होना—सब ब्रह्म के प्रेम और आनन्द की अभिव्यक्ति है। मानव जीवन की उत्पत्ति को ये दोनों (प्रेम और आनन्द) आवेग संचालित करते हैं, इसलिए सुख और दुःख के कुहासे के परे, कबीर उन्हें (प्रेम और आनन्द को) ईश्वर की रचनात्मक क्रीड़ा को संचालित करते हुए पाते हैं। प्रेम ही उसका प्रकट रूप है, आनन्द उसकी अभिव्यक्ति है। स्वीकार की प्रसन्न क्रीड़ा—अनन्त हाँ (ओम) से सृष्टि बनती है, वह दैवीय प्रकृति के गर्भ में निरन्तर प्रकाशित है। यह बात हिन्दू धार्मिक विचारों के सामान्य कोष से गृहीत बहुत से अभिप्रायों में से एक है, जो उनकी कवि प्रतिभा से ज्योतिषित हुई है। स्पन्दन, लय और निरन्तर परिवर्तन कबीर के यथार्थ-बोध के अभिन्न अंग हैं। यद्यपि अनन्त और पूर्ण उनकी चेतना में बने रहते हैं, फिर भी ईश्वरीय प्रकृति की उनकी अवधारणा निश्चित रूप से गतिशील है। गति के ही प्रतीकों के जरिये, वे हम तक 'उसे' सम्प्रेषित करने की प्रायः कोशिश करते हैं, जैसे नृत्य के अपने सुस्थिर सन्दर्भ में या प्रेम के रज्जू से

झूलने वाले सृष्टि के शाश्वत झूले के विलक्षण आधुनिक चित्र के रूप में।

यह रहस्यात्मक साहित्य का चिह्नित किया जाने वाला गुण है कि महान धर्म-संघ अतीन्द्रिय भाईचारे की अपनी प्रकृति को सम्प्रेषित करने के अपने प्रयास में अनिवार्यतः ऐसे ऐन्द्रिय बिम्बों को रचते हैं, जो अश्लील और गलत भी होते हैं। हमारी सामान्य मानवीय चेतना इस तरह स्वातन्त्र्य प्रेमी है कि अन्तर्ज्ञान का फल अपने-आप सहज ज्ञान से उन बिम्बों से सन्दर्भित हो जाता है। अन्तर्ज्ञान में रहस्यवादियों को सभी धुँधली लालसाओं और आंशिक इन्द्रिय आकांक्षाओं



की पूर्ण परिपूर्ति होती लगती है। तब वे अटल घोषणा करते हैं कि वे अविद्यमान ज्योति के दर्शन करते हैं, वे दिव्य संगीत का श्रवण करते हैं, वे प्रभु के माधुर्य का आनन्द लेते हैं, वे अनिर्वचनीय सुवास को जानते हैं और वे प्रेम के संयोग को महसूस करते हैं। वस्तुतः 'उसके' दर्शन करना और 'उसे' पूरी तरह महसूस करना, 'उसका' आध्यात्मिक श्रवण, 'उसकी' प्रीतिकर सुरभि और प्यास बुझाने वाली घूँट नौरविच के

जुलियन-सी है, जिनकी मनोसंवेदी स्वचलताएँ तीक्ष्ण हैं, वे इन्द्रिय और आत्मा की बराबरी को अपनी चेतना में भ्रमों के रूप में महसूस करते हैं। 'वह' सुसो द्वारा देखी गयी ज्योति की तरह, राल द्वारा सुने गये दिव्य संगीत की तरह, सेना सेल के सेंट कैथरीन ने जिसे आत्मसात किया, उस दिव्य सुरभि की तरह तथा सेंट फ्रांसिस एवं सेंट टेरेसा द्वारा अनुभूत शारीरिक घाव की तरह है। प्रतीकवाद की ये अतिनाटकीयताएँ हैं, जिसके अन्तर्गत रहस्यवादी सतह की चेतना के प्रति सहज ज्ञान से अपने आध्यात्मिक अंतर्ज्ञान को प्रस्तुत करने के लिए अभिमुख होता है। वह विशेष ज्ञान, जिसका वे (कबीर) अनुभव करते

**भाववादी प्रवृत्तियाँ उनकी यथार्थ दृष्टि के आध्यात्मिक पक्ष का जन्मजात गुण हैं, जो उसे बौद्धिक सूत्र की निष्प्राण पूजा में विकृत होने से रोकती हैं। निष्प्राण पूजा वेदान्ती स्कूल का अभिशाप हो गयी थी। निरी बौद्धिकता और निरी भक्तिमूलकता का वे कम समर्थन करते हैं। प्रेम उनका 'एकमात्र पूर्ण स्वामी' है। वह अधिक स्वच्छन्द जीवन का अद्भुत स्रोत है, जिसका वे आनन्द लेते हैं।**

का अनुभव किया है और स्वर्गिक फूलों के सुवास को सूँघा है। लेकिन वे आत्यन्तिक रूप से एक कवि और संगीतज्ञ थे। लय और संगीत उनके पोशाक की शोभा और सच्चाई थे। इसलिए रिचर्ड रॉल की तरह अपने गीतों में वे अपने-आपको व्यक्त करते हैं। वे सबसे पहले एक सांगीतिक रहस्यवादी थे। वे बार-बार कहते हैं कि सृष्टि संगीत (अनहद नाद) से भरी हुई है, यह संगीतमय है। सृष्टि के हृदय पर 'उज्वल संगीत बज रहा है।' प्रेम राग बुनता है जबकि संन्यास काल को मारता है। इसे घर और स्वर्ग कहीं भी सुना जा सकता है। इसे सामान्य जन वैसे ही कानों से सुन सकता है, जैसे एक तपोनिष्ठ संन्यासी अपनी अनुभूतियों से। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य का शरीर एक वीणा है, जिसे ब्रह्म बजाता है। ब्रह्म हर तरह के संगीत का स्रोत है। हर जगह कबीर असीम के संगीत को सुनते हैं। वैसा दिव्य संगीत, जिसे देवदूत सेंट फ्रांसिस के लिए बजाते हैं तथा वैसी आध्यात्मिक सिम्फनी

जो रॉल की आत्मा को उल्लसित आनन्द से भर देती है। एक चित्र जिसे उन्होंने हिन्दू देवकुल से लिया है और जिसका वे निरन्तर प्रयोग करते हैं, वे अमर बाँसुरी-वादक कृष्ण हैं। लयात्मक स्पन्दन ब्रह्म के सम्मुख सृष्टि का रहस्यमय नृत्य है, जो एक ही साथ पूजा की क्रिया और सर्वव्यापी ईश्वर के असीम हर्षोल्लास की अभिव्यक्ति है। इस लयात्मक स्पन्दन के दृश्यात्मक मूर्तमान रूप में कबीर दिव्य संगीत (अनहद नाद) सुनते हैं।

सृष्टि के इस व्यापक और हर्षमिश्रित विजन के बावजूद कबीर दैनिक अस्तित्व और सामान्य जीवन को कभी नहीं भूलते। उनके पाँव दृढ़तापूर्वक धरती पर जमे हैं। उनका अक्खड़ और आवेगमय बोध सन्तुलित और तेजस्वी बुद्धि से निरन्तर नियन्त्रित है। यह नियन्त्रण ऐसे सतर्क कॉमन सेन्स के द्वारा सम्भव होता है, जो प्रायः वास्तविक रहस्यात्मक प्रतिभा में पैदा होता है। सादगी और डायरेक्टनेस का निरन्तर आग्रह, हर तरह की अमूर्तता, दार्शनिकता तथा बाह्याचार की निष्ठुर आलोचना उनकी चिह्नित की जाने वाली विशेषताएँ हैं। सभी तरह के प्रत्यक्षीकरण का मूल उद्गम ईश्वर है, जो भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही रूपों में समान है। ईश्वर आदमी की एकमात्र आवश्यकता है— 'जब तुम मूल में जाओगे सारी खुशियाँ तुम्हारी होंगी।' अतः वे अपनी आँख 'एकमात्र आवश्यकता' पर रखते हैं। उनके लिए सम्प्रदाय, धर्ममत, धार्मिक समारोह, दर्शन के निचोड़ तथा संन्यास के अनुशासन तुलनात्मक रूप से व्यर्थ की बातें हैं। कबीर ऐसा भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, जिससे आत्मा ब्रह्म से सहज संयोग कर सकती है। यही आत्मा का ध्येय है। ब्रह्म के साथ आत्मा का सहवास ही इसकी उपलब्धि है। इसलिए कबीर की यह कट्टर उदारता है कि कभी वे वेदान्ती लगते हैं और कभी वैष्णव, कभी सर्वेश्वरवादी हैं तो कभी अनुभवातीतवादी और कभी ब्राह्मण हैं तो कभी सूफी। ब्रह्म उनके जीवन का नियन्ता है। वह अतिविस्तृत है और एकदम पास भी। उस अनिर्वचनीय भावबोध के बारे में सत्य कहने के प्रयास में वे उस गुत्थी को एक साथ समझ लेते हैं, जैसे वे अपने करघे पर परस्पर विरोधी धागों को बुनते हैं। वह करघा जो उनके सर्वाधिक उग्र और परस्पर विरोधी दर्शनों और आस्थाओं से निकले प्रतीकों और विचारों का प्रतिरूप है। सभी आस्थाएँ एवं दर्शन 'उसे' समझने में सहायक हैं। उपनिषद् ने 'उसे' सूर्य-सा ज्योतिरित बतलाया है। वह अन्धकार से परे है। उज्वल प्रकाश की प्रचुरता को दर्शाने के लिए सभी रंगों के वर्णक्रम को देखना जरूरी है। इस तरह अपने इस्तेमाल के लिए वे

पारम्परिक तरीकों को अनुकूल बनाते हुए रहस्यवादियों में सामान्य रूप में प्रचलित एक तरीके का अनुसरण करते हैं। वे रूप की मौलिकता के लिए किसी तरह का विशेष प्रेम विरले ही प्रदर्शित करते हैं। वे अपनी शराब प्रायः उसी बर्तन में रखते हैं जो हाथ में आता हो। वे आमतौर पर उन्हें प्राथमिकता देते हैं, जो सौन्दर्य तथा अर्थवत्ता के धरातल को उन्नत करते हैं तथा जो अपने समय के प्रचलित धार्मिक या दार्शनिक सूत्र हैं। इस तरह हम पाते हैं कि कबीर की कुछ श्रेष्ठतम कविताएँ विषयवस्तु के रूप में हिन्दू दर्शन और धर्म की घिसी-पीटी बातों की हैं, जैसे— ईश्वर की लीला, परमानन्द का सागर, आत्मा का पक्षी (हंसा), माया, सहस्रदल कमल और रूपहीन रूप। फिर बहुत-सी कविताएँ सूफी बिम्बों और भावों से सराबोर हैं। दूसरी विशेषता है उनकी रचना में भारतीय जीवन की सामान्य परिस्थितियों और प्रसंग, जैसे मन्दिर की घंटियाँ, दीपक का समारोह, विवाह, सती और मौसम की विशेषताएँ। उनके द्वारा अनुभूत सारी चीजें अपने रहस्यात्मक रूप में ब्रह्म से आत्मा के सम्बन्ध की प्रतीक-सी हैं। इनमें से कई में विशेष रूप से सुन्दर और भारतीय भाव प्रकृति के प्रति प्रकट हुए हैं।

यहाँ अनूदित गीतों के संग्रह में ऐसे उदाहरण मिलेंगे जो कबीर के चिन्तन के करीब सभी पक्षों को उद्घाटित करते हैं। सभी पक्ष यानी एक रहस्यवादी के मनोभाव के सभी उतार-चढ़ाव, जैसे— समाधि, निराशा, नीरव परमानन्द, उग्र आत्म-समर्पण, विस्तृत ज्योति की चमक और आत्म विभोर प्रेम के क्षण। संसार का उनका व्यापक और गहरा ज्ञान, सृष्टि का शाश्वत खेल, ईश्वर के अस्तित्व में संसार का 'मनकों की तरह होना' यहाँ दिखता है। शाश्वत प्रेमी के साथ आत्मीय घनिष्ठता के उनके प्यारे और सुकुमार भाव तथा सबके ऊपर उनकी सुन्दर कविता भी यहाँ है। सत्ता के ये स्पष्ट विरोधाभासी विचार ब्रह्म में नियोजित हैं, इसलिए दूसरे सभी प्रतिमुख—दासता और मुक्ति, प्रेम और त्याग तथा आनन्द और पीड़ा—ब्रह्म में मिल जाते हैं। ब्रह्म के साथ संयोग आत्मा के लिए महत्वपूर्ण है। यदि हम उसे अपनावें तो उसकी आवश्यकता, संयोग और ईश्वर की खोज सब कुछ सरल और अत्यन्त स्वाभाविक है। संयोग प्रेम से उत्पन्न होता है— ज्ञान या औपचारिक रीति-रिवाजों से नहीं। और ज्ञान से संयोग होता है। वह अकथनीय है। वह 'न तो यह है, न वह', जैसा रुजब्रोक कहता है। वास्तविक पूजा और सहभागिता 'आत्मा' में और सत्य में है, इसलिए मूर्तिपूजा 'शाश्वत प्रेमी' का अपमान है। दिखावटी (प्रोफेशनल) पवित्रता के साधन व्यर्थ

हैं। आत्मा की उदारता और शुद्धता से अलग कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं। सभी चीजों में और विशेष रूप से मनुष्य के हृदय में ब्रह्म निवास करता है, सब कुछ ब्रह्म आविष्ट है। 'वह' कहीं भी पाया जा सकता है— सामान्य मानवीय एवं दैहिक अस्तित्व में भी तथा भौतिक जीवन और पंक में भी। हम बिना पथ पार किये ध्येय तक पहुँच सकते हैं। घर आदमी की साधना की सबसे उपयुक्त जगह है, मठ नहीं। और यदि वह वहाँ ईश्वर को नहीं पाता है तो उसे बाहर आशा नहीं करनी चाहिए। 'घर सच्चाई है।' वहाँ प्रेम और विमुखता, दासता और स्वतन्त्रता तथा खुशी और दुःख आत्मा के ऊपर बारी-बारी से खेलते हैं, और यह उनका द्वन्द्व है जो असीम आनन्द के अनहद संगीत से उपजता है। कबीर कहते हैं— 'ब्रह्म के सिवाय इस लय को कोई दूसरा नहीं उत्पन्न कर सकता।'

3

कबीर के गीतों का यह अनुवाद मुख्य रूप से रवीन्द्रनाथ टैगोर ने किया है। कबीर की रहस्यात्मक प्रतिभा की प्रवृत्ति उनमें भी मिलती है। वे सभी, जो इन कविताओं को देखेंगे, टैगोर को कबीर की दृष्टि और विचार का विशेष सहृदय व्याख्याकार पायेंगे। यह संग्रह मुद्रित हिन्दी टेक्स्ट के साथ श्री क्षितिमोहन सेन के बाँग्ला अनुवाद पर आधारित है, जिन्होंने कबीर की कविताओं को विभिन्न स्रोतों से इकट्ठा किया है। उन्होंने कभी पुस्तकों और पांडुलिपियों से, कभी घुमन्तू साधुओं और गायकों के मुख से गाये जाने वाले भजनों और कविताओं के विशाल संग्रह से, जिनसे कबीर का नाम जोड़ दिया गया है, अपना संग्रह तैयार किया है। उन्होंने प्रामाणिक गीतों को सावधानीपूर्वक, कबीर के नाम पर प्रचलित अप्रामाणिक साहित्य से, अलग किया है। उनके उन श्रम-साध्य कार्यों से ही यह वर्तमान दायित्व सम्भव हो पाया है।

श्री क्षितिमोहन सेन के टेक्स्ट से पहले हमने श्री अजीत कुमार चक्रवर्ती द्वारा 116 गीतों के अँग्रेजी अनुवाद की पांडुलिपि का भी अवलोकन किया है। उसमें कबीर पर लिखा उनका एक निबन्ध भी है। उससे हमने काफी मदद ली है। अनुवाद से यथेष्ट पाठ यहाँ हमने लिये हैं। निबन्ध में उल्लिखित बहुत से तथ्यों को इस परिचय में मिला लिया गया है। श्री अजीत कुमार चक्रवर्ती अत्यन्त उदार और निःस्वार्थ स्वभाव के व्यक्ति हैं। हमारे काम के लिए उन्होंने अपनी पांडुलिपि हमें सौंप दी। वे कृतज्ञता से भरे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

अनुवाद—प्रो. गोपेश्वर सिंह  
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय  
दिल्ली-110007

## बच्चों के प्रति एक हिंसा



डॉ. परमानन्द पांचाल

गांधी-जयन्ती के अवसर पर जब सारा देश सफाई-आन्दोलन के अभियान पर झाड़ू उठाये सड़कों पर उतर आया था, मैं अपने एक रिश्तेदार से मिलने मेरठ के एक गाँव गया। मेहमानदारी और आवभगत हुई। बच्चे और उनके माता-पिता मिलकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने बड़े शौक से अपने एक छोटे बच्चे का परिचय मुझसे कराया, जो बड़ा निपुण था। उन्होंने बताया कि यह बच्चा तीसरी कक्षा में एक पब्लिक स्कूल में पढ़ता है। मोटी-मोटी किताबों के साथ बच्चा बड़ी उमंग से आया। मैंने कहा, “बेटा, जरा इसमें से कुछ पढ़कर सुनाओ।” वह अँग्रेजी की एक किताब से बड़े शौक से कुछ पढ़ने लगा। मैं अँग्रेजी शब्दों के उसके उच्चारण सुनकर भौचक्का रह गया। मुझको तरस उस पर नहीं, उसकी शिक्षिका पर और उस शिक्षा-पद्धति पर आया, जो इन मासूमों पर अत्याचार ही नहीं, नौनिहालों के जीवन से खिलवाड़ कर रही है। यह सरासर एक हिंसा है। हम इन मासूम बच्चों पर जो अभी अपनी मातृभाषा में ठीक से बोलना भी नहीं सीख पाये थे, एक ऐसी भाषा को थोप रहे हैं, जिसका उच्चारण अन्य देशवासी तो क्या स्वयं उसके नागरिक भी शायद ठीक से नहीं कर पाते।” यह हिंसा नहीं तो क्या है? क्या गांधीजी के प्रति हमारी यही श्रद्धांजलि है कि हम अपने नौनिहालों को, अपने मासूमों को, शिक्षा के नाम पर यातनाएँ दें। उनके स्वाभाविक मानसिक विकास को अवरुद्ध करें और पानी की तरह पैसा बहाकर भी गरीब माँ-बाप उन्हें शिक्षा-जगत में बौनों की कतार में खड़ा कर दें। स्वतन्त्र भारत और विश्व के सबसे बड़े गणराज्य में इसके लिए कौन जिम्मेदार है? क्या इसके लिए बापू जिम्मेदार हैं, ‘या स्वयं हम हैं’? गांधीजी ने बहुत पहले ही आगाह किया था कि बच्चों के विकास के लिए मातृभाषा की शिक्षा उतनी ही आवश्यक है, जितना उसके लिए माँ का दूध है! जरा ठंडे दिल से सोचिये कि क्या हम अपनी इस शिक्षा-पद्धति से बच्चों के प्रति अन्याय नहीं कर रहे हैं? क्या उनके प्रति यह हिंसा नहीं है?

गांधीजी ने बहुत पहले ही आगाह किया था कि बच्चों के विकास के लिए मातृभाषा की शिक्षा उतनी ही आवश्यक है, जितना उसके लिए माँ का दूध है! जरा ठंडे दिल से सोचिये कि क्या हम अपनी इस शिक्षा-पद्धति से बच्चों के प्रति अन्याय नहीं कर रहे हैं? क्या उनके प्रति यह हिंसा नहीं है?

पहली कक्षा ही नहीं, नर्सरी और प्री-नर्सरी स्तर से ही उन पर एक ऐसी भाषा थोपकर हम उनके साथ अन्याय नहीं कर रहे हैं क्या? जिससे उनका मानसिक विकास अवरुद्ध होता है। बच्चे पढ़ने से जी चुराते हैं। बच्चा अपने वातावरण की जिस भाषा में पलता है, जिस भाषा में अपने माता-पिता और साथियों से बातें करता है उसी में हँसता-बोलता है, फिर उसको उसी भाषा में शिक्षा क्यों नहीं दी जाती? क्या उसके कच्चे मन पर विदेशी भाषा का बोझ डालना उसके साथ अन्याय नहीं है। कौन बताये? भारतीय स्कूलों की एक बड़ी शिकायत यह है कि बड़ी संख्या में बच्चे सेकेंड्री स्कूल तक पहुँचते-पहुँचते बीच में शिक्षा छोड़ देते हैं। इसके कारण कुछ भी क्यों न हों, किन्तु एक बड़ा कारण, उन पर एक विदेशी भाषा का बोझ भी है, जिससे वे जी चुराते हैं। उनकी पढ़ाई में अरुचि हो जाती है। आश्चर्य है कि शिक्षाशास्त्री इस तथ्य पर ध्यान क्यों नहीं देते? सरकार क्यों असहाय बनी हुई है?

आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी का युग है। सभी भाषाएँ इससे लाभ उठा रही हैं। लोकप्रियता के क्षेत्र में अब उन्हीं भाषाओं का वर्चस्व रहेगा, जिसमें लेखन और ध्वनि का सामंजस्य होगा, अर्थात् उच्चारण और लेखन में समानता होगी। इसके संकेत हमें भाषाविदों और वैज्ञानिकों ने पहले ही दे दिये हैं।

अभी हाल ही में टाइम्स ऑफ इंडिया में एक समाचार प्रकाशित हुआ था कि ब्रिटिश लाइब्रेरी-लन्दन का रिसर्च इंस्टीट्यूशन लोगों से कुछ अँग्रेजी शब्दों के सही उच्चारण आमन्त्रित कर रहा है, क्योंकि रोमन लिपि के कारण शब्दों के उच्चारण में परिवर्तन हो रहा है। भिन्न-भिन्न लोग एक ही शब्द का उच्चारण अलग रूप में करते हैं जैसे- टमाटर के लिए Tomoto और कुछ लोग Tomato करते हैं। इसी प्रकार Garrage को Marriage के वजन पर बोला जाये या Mirage के वजन पर। eat का भूतकाल ate हो या ett, इस पर स्वयं इंग्लैंड में चर्चा है। जिस भाषा में लिपि के कारण उसके बोलने वालों में इतना भ्रम हो, क्या वह लिपि भविष्य में विश्व लिपि के रूप में ठहर पायेगी? इसमें सन्देह है—

नासा के प्रसिद्ध वैज्ञानिक रिक ब्रिग्स ने तो 1985 के अपने लेख में स्पष्ट संकेत भी दे दिये हैं कि संस्कृत भाषा और देवनागरी लिपि ही कम्प्यूटरी आज्ञावानी की दृष्टि से आदर्श लिपि है। The Phonetic accuracy of Devanagari compares well with that of Modern Phonete Transcription, इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस अँग्रेजी भाषा और उसकी लिपि को हम अपने नौनिहालों के ऊपर बलात थोप रहे हैं, क्या उसके भार से बच्चों का विकासोन्मुख व्यक्तित्व सही रूप में विकसित हो सकेगा? क्या हमारा शिक्षा विभाग इस ओर आँख बन्द किये हुए है? क्या हम अपने राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों के सन्देश को नहीं सुन रहे हैं? यहाँ मैं सरकार द्वारा नियुक्त ज्ञान आयोग के अध्यक्ष श्री सेम पित्रोदा की रिपोर्ट की ओर ध्यान दिलाना चाहूँगा, जिसमें उन्होंने भारतीय स्कूलों में पहली कक्षा से ही अँग्रेजी को अनिवार्य बनाने की सिफारिश की थी और भारत सरकार ने उसे तत्काल स्वीकार भी कर लिया था। आश्चर्य तो तब हुआ जब हमारे शिक्षाशास्त्रियों और भाषाविदों ने इसका कोई विरोध ही नहीं किया। क्या नयी दिल्ली, मुम्बई और कोलकाता या चेन्नई जैसे महानगरों के पब्लिक स्कूलों के विद्यार्थियों के सामने गाँवों और कस्बों के इन स्कूलों के विद्यार्थी कहीं ठहर भी पायेंगे? क्या उनकी अँग्रेजी और इन सरकारी स्कूलों की अँग्रेजी का स्तर समान रह पायेगा? आज माँ-बाप इस अँग्रेजी की होड़ में अपने बच्चों के लिए अपनी गाढ़ी कमाई को लगा देते हैं, फिर भी उन्हें

निराशा ही हाथ लगती है। क्यों नहीं हम समान अवसर के लिए मातृभाषा की शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा स्तर पर अनिवार्य बना दें और विदेशी भाषा को इसके बाद ही पढ़ाया जाये। आश्चर्य है कि ब्रिटिश राज में तो ऐसा था भी, किन्तु आज क्यों नहीं है? हम विवश हैं। आज शिक्षा ने एक ऐसे उद्योग का रूप ले लिया है, जिसमें कोई घाटा ही नहीं है। इस उद्योग में हमारे उद्योगपतियों का ही नहीं, अधिकांश विधायकों और सांसदों का भी पैसा लगा है। फिर, क्या इस उद्योग को बन्द किया जाना इतना सरल है? विडम्बना तो यह है कि सरकारी स्कूलों को जान-बूझकर कमतर बनाकर बन्द किया जा रहा है। पब्लिक स्कूलों में पढ़ाना एक सोसायटी सिम्बल बन गया है। यह भी एक हकीकत है कि आज अधिकांश नई कॉलोनियों के सरकारी स्कूलों में वहाँ का कोई छात्र ही नहीं पढ़ता। यह उपेक्षा क्यों है? क्या इन स्कूलों को हम पब्लिक स्कूलों के स्तर पर नहीं ला सकते? क्या सबका पाठ्यक्रम एक नहीं हो सकता? कस्बों और गाँवों की स्थिति तो और भी भयानक है। वहाँ पब्लिक स्कूलों के नाम पर अँग्रेजी नामों वाले हर गली-कूचे में कुकरमुत्तों की भाँति इतने स्कूल खुल रहे हैं कि वहाँ शिक्षा का कोई स्तर ही नहीं रह गया है। वहाँ शिक्षकों का अँग्रेजी ज्ञान कागजों पर भले ही कुछ हो, व्यावहारिक दृष्टि से बहुत निराशाजनक है। अनेक अँग्रेजी शब्दों का उनका उच्चारण तो हास्यास्पद ही है। फिर, उनके शिष्यों के अँग्रेजी ज्ञान का क्या होगा? भगवान ही जानता है। विडम्बना यह है कि इन स्कूलों की शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी है। बच्चे क्या पढ़ रहे होंगे, यह सोचकर उनके भविष्य पर तरस आता है। विद्यार्थियों का जो समय माध्यम सीखने पर लगाया जाता है, वह विषय के ज्ञान पर नहीं। यही कारण है कि आज विश्व के श्रेष्ठ 350 विश्वविद्यालयों में भारत के केवल दो विश्वविद्यालयों का ही नाम है। यह हमारी शिक्षा-पद्धति पर एक बड़ा प्रश्नचिह्न है।

यहाँ मुझे उस होनहार बच्चे की शिक्षा को लेकर देश की समस्त शिक्षा-पद्धति पर सोचने के लिए विवश कर दिया। मुझे लगा कि हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली बच्चों के व्यक्तित्व के सही विकास के स्थान पर, उन्हें एक प्रकार से बौना ही बना रही है। बच्चे ही तो किसी देश का भविष्य होते हैं, राष्ट्र की सच्ची सम्पत्ति हमारे बच्चे ही हैं, क्या हमारी आज की लोकप्रिय सरकार, इस ओर समुचित ध्यान देगी? आशाओं के साथ।

**सम्पर्क—**

232ए, पॉकेट-1, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110009

मो.: 09818894001

## हमारे गाँव, कस्बे और प्रेमपत्र



क्षमा शर्मा

करीब पैंतालीस साल पहले लड़की स्कूल से लौट रही थी। आज छुट्टी जरा जल्दी हो गयी थी। दो क्लास आगे पढ़ने वाली शोभा नहीं रही थी। कई दिन से वह स्कूल नहीं आ रही थी। पता चला कि कल उसने आत्महत्या कर ली। एकाएक हुई छुट्टी से लड़कियाँ खुश थीं। कुछ ने प्रोग्राम बनाया था कि चलो रामबाग घूमने चलते हैं। छुट्टी के वक्त घर लौट चलेंगे। वहाँ खाने-पीने का सामान भी ले चलते हैं। पिकनिक मनायेंगे। लड़की से भी कहा था। मगर उसने मना कर दिया। ऐसा नहीं था कि वह जाना नहीं चाहती थी। मगर कैसे जाती। एक तो उसके पास कुछ भी खरीदने को पैसे नहीं थे। अक्सर ही नहीं होते थे। ऐसे में बाकी लड़कियाँ उसे खिलायेंगी और उसके पास कुछ न होगा, तो सब उसका मजाक भी उड़ायेंगी। दूसरी बात यह भी थी कि इन लड़कियों के घरवालों को तो छुट्टी का पता नहीं चलेगा मगर इस लड़की की तो अपनी बहन यहाँ पढ़ाती है। उसकी शादी हो गयी है। कहीं और रहती है मगर बात चलने पर बता तो सकती है। वैसे भी लड़की की समझ में नहीं आ रहा था कि शोभा ने ऐसा क्यों किया होगा। वह इस तरह उसके मर जाने से परेशान थी।

दिल्ली से भेजा भाई का मनीआर्डर अब तक नहीं आया था। बाउजी रोज डाकिया से पूछते थे, मगर हर बार ना ही सुनने को ही मिलती थी। डाकिया मनीआर्डर वैसे भी सबसे पहले पहुँचाता था। हर मनीआर्डर पर एक रुपया जो मिलता था। हर दिन कटना मुसीबत थी। यहाँ तक कि गम्भीर रूप से बीमार पिता को गाय के दाने की रोटी खानी पड़ी थी। वह तो बहुत बाद में पता चला था कि भाई के एक दोस्त उनसे मिलने गये थे। भाई ने यह सोचकर कि मनीआर्डर भेजने में तो बहुत समय लगेगा, वह पैसा जल्दी पहुँचा देंगे। भाई ने उनसे बार-बार आग्रह किया था कि वह जाते ही पैसे पहुँचा दें। मगर जाते ही पहुँचाने की बात तो दूर, सालों तक कभी उन्होंने उस पैसे को देने की जरूरत ही नहीं समझी।

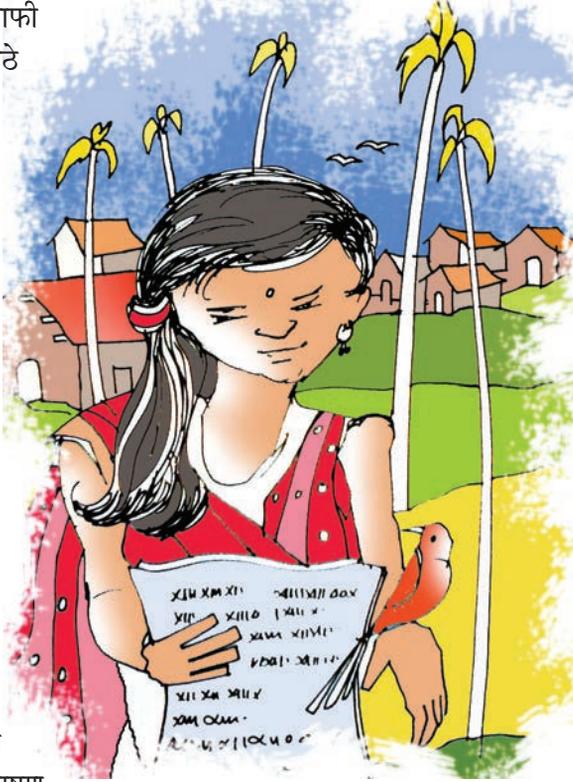
भाई को भी यह बात कभी नहीं बतायी गयी थी। सब को लगता था कि परिवार की इतनी परवाह करने वाले बेटे को क्यों तंग करें। सालों बाद भाई को जब पता चला तो उन्हें बहुत अफसोस हुआ। उन्हें लगा था कि बीमार पिता को कितना कुछ झेलना पड़ा। यह गरीबी एक ब्राह्मण परिवार की थी जो विरासत में मिली थी। न खेत, न घर, न कोई जमापूँजी। पिता नौकरी से रिटायर हो चुके। शादी के लिए तीन लड़कियाँ। लेकिन उस समय लगता था जो कि जीवन-भर लगता रहा कि बड़े भाई हैं तो सब ठीक कर लेंगे। उनका किसी भी परिस्थिति में न हारने का सोच। अपने घर की लड़कियों, बहनों को कुछ करने के लिए प्रेरित करना। उन्हें आजादी देना। किसी से भी बात करने की, बहस करने की। लड़कियाँ लड़कों से क्यों बात न करें, लड़के घर क्यों न आयें। लड़कों से क्यों डरें। उस छोटे शहर में उन दिनों के हिसाब से इस तरह लड़कियों का लड़कों से घुलना-मिलना बहुत बड़ा पाप था। अपराध। यह पुंश्चलियों और वेश्याओं का काम

शोभा लाइन में पीछे खड़ी थी। लड़कियाँ मुड़-मुड़कर उसे देखने लगीं। वह सिर झुकाकर स्टेज पर पहुँची। उसके घुँघराले बाल हवा में उड़ रहे थे। प्रधानाचार्य ने माइक सँभाला। कहा कि हमारे स्कूल में हम चाहते हैं कि पूरा डिसिप्लिन रहे। लेकिन कभी-कभी तुम लोग उसे तोड़ने की कोशिश करते हो। इससे स्कूल की बदनामी तो होती ही है, तुम्हारी भी होती है।

था। तब यह समझ में नहीं आता था। जिन लड़कों से बात कर ली, मुस्करा दिये उन लड़कों को सोच-समझ भी ऐसी लड़कियों के बारे में ऐसा ही होता था कि जब लड़की लिपट दे रही है, तो मजे लूटने में क्या जाता है। लड़की का बात करना-भर उसे तरह-तरह से बदनाम करने के लिए काफी था। यही नहीं ऐसा भी होता था कि आते तो राखी बँधवाने थे मगर मौका मिलते ही प्रेम निवेदन करने से नहीं चूकते थे। लड़की इस बात पर ध्यान नहीं देती थी, या डाँट देती थी तो भी इसका परिणाम उसी को भुगतना पड़ता था। सारे शहर में वह उन लड़कों की प्रेमिका घोषित कर दी जाती थी। कई बार लड़की को यह भी पता नहीं होता था कि जिन लड़कों को वह जानती नहीं, जिनसे कभी मिली नहीं, बात नहीं की वे भी लगे हाथों दोस्तों से अपने झूठे-सच्चे प्रेम के किस्से बयान करके और लड़की को काफी जोरदार माल और टैक्सी, कोटे वाली आदि कहकर अपने पुरुष वर्चस्व का सुख पाते थे।

ये वही लड़के होते थे जो अपने घरों की लड़कियों को औरतों को ताले में रखना पसन्द करते थे। अपनी लड़कियों की आजादी के विचार-भर से इनकी नींद उड़ जाती थी। क्योंकि ये जानते थे कि बाहर की लड़कियों के बारे में जैसा ये सोचते हैं इनकी औरतों के बारे में भी लोग कहीं वैसा ही न सोचने लगे। आजाद लड़की माने था बिगड़ल लड़की। ऐसी लड़की जो किसी भी पुरुष के साथ जा सकती है। और इनकी नजरों में आजादी भी कैसी- भाषण

देने वाली लड़की, नाचने वाली लड़की, लड़कों से नजरें मिलाकर बात करने वाली, मनपसन्द कपड़े पहनने वाली। कविता, कहानी, उपन्यास पढ़ने वाली लड़की। उन दिनों लड़कियों के फिल्म देखने पर तो पाबन्दी थी ही। माना जाता था कि फिल्में बनती ही इसलिए हैं लड़कियों का सर्वनाश कर सकें। घर के सब बड़े इस बात पर एकमत रहते थे कि फिल्मों में लड़के-लड़की जो कुछ करते हैं, बच्चे उन्हें ही देखकर बिगड़ते हैं। खास तौर से लड़कियाँ। यही नहीं कोर्स की



किताबों के अलावा कहानियाँ- उपन्यास पढ़ने की विशेष मनाही थी। जिस परिवार में कोई पढ़ने भी देता था तो पहले घर का कोई बड़ा आम तौर पर पिता, चाचा, ताऊ या भाई पहले पढ़ते थे। यह देखने के लिए किताब लड़कियों के पढ़ने के लायक है या नहीं। और लड़कियों के पढ़ने लायक कौन-सी किताब नहीं होती थी। जिसमें लड़के-लड़की के प्रेम-प्रसंग हों। अन्तरजातीय विवाह हों। फैशन की बात हों। हालाँकि तब प्रेम-प्रसंग आम तौर पर प्लेटोनिक स्तर पर ही रहते थे, मगर लड़कियों को उस रिश्ते में भी बदनामी और चालू होने के तमगे मिलते थे। यही नहीं प्रेम चाहे कैसा भी हो ऐसा भी कि सिर्फ किसी को एक बार देखने-भर से हो गया हो। या कि रिश्ता सिर्फ दो-चार बार की बातचीत तक ही रहा हो,

मगर समाज की नजर में हर प्रेम की आखिरी परिणति यानी कि शारीरिक सम्बन्धों

तक जोड़ दिया जाता था। जबकि आज प्रेम को सौ फीसदी शरीर से जोड़ दिया गया है। प्लेटोनिक लव की कोई गुंजाइश ही नहीं बची है। बल्कि इसे पिछड़ेपन के खाते में डाल दिया गया है। तब भी आज कोई लड़कियों पर उस तरह से उँगली नहीं उठाता जैसे कि तब उठाता था। न ही कोई लड़कियों को उसके प्रेमी का नाम लेकर तंग करने की कोशिश करता है। उन दिनों किसी एक से प्रेम करने वाली लड़की (प्रेम न भी किया हो अगर किसी लड़के ने जबरिया अपने साथ उसका नाम जोड़ दिया हो) संसार के हर पुरुष की साझी सम्पत्ति है, वह एक के साथ ऐसा

कर सकती है तो हमारे साथ क्यों नहीं। उसी में ऐसी क्या विशेषता है। हम किसी से कम हैं।

आज इस भावना का भी बहुत हद तक लोप हो चुका है। कहाँ तो लड़कियों पर किताबें पढ़ने क्या बिना इजाजत छूने पर भी पाबन्दी थी, लेकिन हमारी हालत यह थी कि भाई साहब जो भी नई किताब पढ़ते हमसे पढ़ने को जरूर कहते।

तो फिर से उस लड़की की तरफ लौटें। लड़की अपनी क्लास की लड़कियों के साथ नहीं गयी थी। वह घर लौट रही

थी और सोचती जा रही थी। शोभा ने आत्महत्या कर ली। क्या कमी थी उसे। स्कूल भी सोने के कड़े और सोने की जंजीर पहनकर आती थी। जबकि लड़की के पाँव में जो जूते थे वह उसने अपनी सहेली से लिये थे पुराने। और उस सहेली ने सबको बता दिया था कि इसके पास तो जूते खरीदने तक को पैसे नहीं हैं। सच बात थी पैसे नहीं थे। पूरे घर में गरीबी दाँत किटकिटा रही थी। और समझ में नहीं आता था कि उससे कैसे पीछा छूटेगा। कितने दिन गाय के दाने की रोटी खाई थी जो बीमार पिता के गले से नहीं उतरती थी। ऊपर से काछी जाति के साँवरे चाचा जिनका कोई नहीं था। जोड़ों की बीमारी से उनके हाथ-पाँव टेढ़े हो गये थे। पिता जी ने कहा था कि हफ्ते में एक दोपहर हमारे यहाँ खा लिया करें। सोचिये कि अपने लिए खाने को नहीं था। तो उन्हें क्या खिलाते। बेचारे गरीब चाचा आते थे। दाने की रोटियाँ खाते हुए उनकी आँखों से बहने वाले आँसू आज तक याद हैं। इसी बीच दिल्ली में ही रहने वाले छोटे भाई आये तो घर की फटेहाली देखकर परेशान हो गये। उन दिनों उन्हें एक सौ अस्सी रुपए मिलते थे। लौटकर सबसे पहले उन्होंने अस्सी रुपए का मनीआर्डर भेजा था। उससे कुछ दिन की राहत मिली थी। भाई ने बड़े भाई साहब को बताया तो वह भी परेशान हो उठे। उन्होंने फौरन इन्तजाम करके पैसे भेजे थे।

जैसे लड़कियों के बारे में लड़के तमाम तरह का प्रवाद फैलाते थे उनका पीछा करते थे, लड़कियाँ भी कोई कम नहीं थीं। वे शोभा को लेकर तरह-तरह की बातें करतीं। इन कम उम्र लड़कियों की भाषा भी लड़कों से कम नहीं थी। जिसमें इन्हीं जैसी लड़कियों का अपमान छिपा था जिसे शायद ये नहीं जानती थीं। या कि जैसा सुनती थीं वैसा ही कहती थीं।

एक सवेरे क्या हुआ कि प्रधानाचार्य सवेरे की प्रार्थना सभा में आ पहुँचीं। वह अक्सर नहीं आती थीं। प्रार्थना खत्म होने के बाद उन्होंने पुकारा था—क्लास टेंथ बी की शोभा अग्रवाल स्टेज पर आये।

शोभा लाइन में पीछे खड़ी थी। लड़कियाँ मुड़-मुड़कर उसे देखने लगीं। वह सिर झुकाकर स्टेज पर पहुँची। उसके घुँघराले बाल हवा में उड़ रहे थे। प्रधानाचार्य ने माइक सँभाला। कहा कि हमारे स्कूल में हम चाहते हैं कि पूरा डिसिप्लिन रहे। लेकिन कभी-कभी तुम लोग उसे तोड़ने की कोशिश करते हो। इससे स्कूल की बदनामी तो होती ही है, तुम्हारी भी होती है। अब इस शोभा को ही लो। इसका लैटर स्कूल में पकड़ा गया है। इसे किसने लिखा है पता नहीं। मैं इसे पढ़कर सुनाती हूँ। प्रधानाचार्य पत्र पढ़ती जाती थी जिसमें शोभा का सिर से

लेकर पाँव तक बेहद अश्लील वर्णन किया गया था। पत्र जैसे-जैसे आगे बढ़ता जा रहा था, शोभा पीली पड़ती जा रही थी और आखिर तक आते-आते उसके आँसू बहने लगे थे। पत्र किसने लिखा है यह पता नहीं, मगर सारा दोष उसी का मान लिया गया। पत्र खत्म करने के बाद प्रधानाचार्य ने कहा था कि अगर दोबारा कभी ऐसा पत्र आया तो शोभा को स्कूल से निकाल दिया जायेगा। पत्र पर न कोई नाम था न पता, फिर कैसे पता चलेगा कि उसे किसने लिखा था। उसे कोई रोकेगा कैसे। जिसने यह किया उसके बारे में कोई कुछ नहीं कह रहा था। सबने मान लिया था कि जरूर शोभा ने ही ऐसा कुछ किया होगा। आखिर उसी के नाम पत्र क्यों आया और भी तो सैकड़ों लड़कियाँ इस स्कूल में पढ़ती हैं। सारी लड़कियाँ खुसुर-पुसुर करती शोभा को देखकर हाय-हाय कर रही थीं। वे ऐसे दिखा रही थीं जैसे उनमें से किसी ने लव लेटर का नाम ही न सुना हो, जबकि उनमें से कई खुद को लिखे प्रेमपत्र बस्ते में छिपाकर लाती थीं और अपनी सहेलियों को पढ़वाती थीं।

लड़की घर आयी तो सन्न रह गयी। बड़ी बहन पहले से वहाँ आकर बैठी हुई थी। अगर वह अपनी सहेलियों के साथ रामबाग चली गयी होती तो क्या हुआ होता। वह कपड़े बदलते हुए बहन की बातें सुन रही थी। वह खूब रस ले लेकर शोभा को लिखे प्रेमपत्र के बारे में बता रही थी। साथ ही कहती जा रही थी कि ऐसी आवारा लड़कियों का होता क्या है। या तो वे खुद मर जाती हैं या मार दी जाती हैं। मगर शोभा ने क्या किया था। वह क्यों मर गयी। अगर पत्र लिखना गलत बात है तो शोभा नहीं उस लड़के को मरना चाहिए था। वह कौन था क्या पता। क्या शोभा उसे जानती थी। हो सकता है कि उसने लड़के को किसी बतमीजी पर डाँट दिया हो और लड़के ने उसे बदनाम करके बदला निकाला हो।

लड़की की समझ में कुछ नहीं आया। वह बहन के बारे में सोचने लगी। इसे भी शोभा की ही गलती क्यों लग रही है। उसने क्या किया था। अचानक लड़की को घबराहट-सी होने लगी। कल उसे कोई ऐसी चिट्ठी लिख दे तो उसका क्या होगा। सब उसकी वैसे ही बुरी करेंगे जैसे बहन शोभा की कर रही है।

सम्पर्क—17/बी 1, हिंदुस्तान टाइम्स,  
अपार्टमेंट्स मयूर विहार फेज 1, दिल्ली-91  
मो. : 9718258822



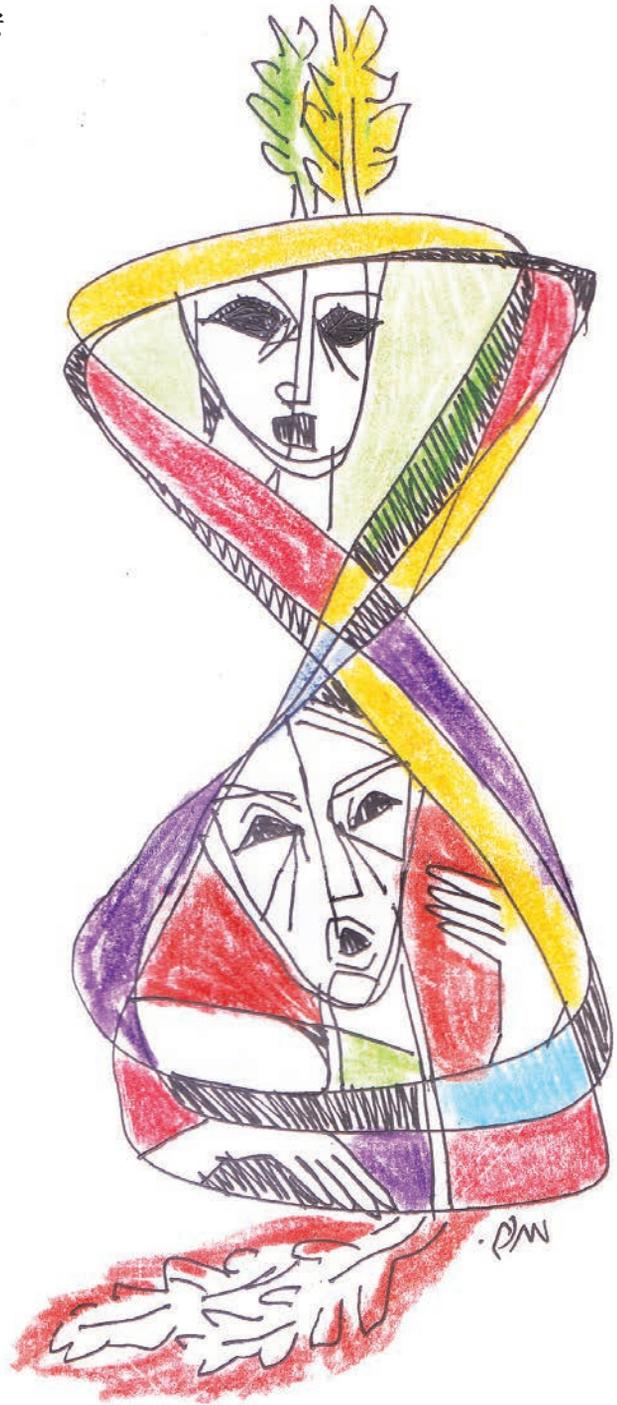
# मृत्युंजय प्रभाकर की कविताएँ

कितनी अजीब बात है

कितनी अजीब बात है  
 कभी-कभी सब कुछ  
 इतना भयावह लगने लगता है  
 जैसे वह पहले कभी नहीं लगी थीं  
 जबकि उसके बारे में आप पहले से  
 जान रहे होते हैं कितना कुछ  
 अब जैसे इसी बात को ले लीजिये  
 कल भी यमुना गन्दी बह रही थी  
 आज भी बह रही है  
 कल भी बहती रहेगी  
 यह कोई ऐसी बात नहीं है  
 जिसके लिए चौंका जाये  
 पर यकायक आपको यह ख्याल आता है  
 और आप काँप जाते हैं यह सोचकर कि  
 इतनी गन्दगी कहाँ से अर्जित कर ली हमने  
 यह भी कम दिल दुखाने वाली बात नहीं है कि  
 जिस रास्ते से हर दिन आप गुजर जाते हैं  
 अपनी चिन्ता में गुम कुचलते हुए  
 कितने ही नन्हें से जीवों को  
 पेड़ से झड़कर गिरे पत्तों को  
 और छोड़ जाते हैं पीछे  
 कुम्हलाता हुआ अतीत  
 अचानक एक दिन किसी बुरे दौर में  
 आपको आता है यह ख्याल कि  
 कहीं आपका हश्र भी तो यही नहीं होने वाला  
 मैंने पूछा है बार-बार अपने से  
 कि आखिर मैंने अपना बचपन  
 कब और कहाँ खो दिया  
 वे कौन सौदागर हैं जिन्होंने  
 उसे वक्रत के पहले ही हड़प लिया  
 मैं जो एक आम निम्न-मध्य वर्ग में पैदा हुआ  
 उसने नहीं जिया अपना बचपन बचपन की तरह तो  
 गरीबों के बच्चे क्या खाक जीते होंगे ?  
 यह भी क्या कम अजीब है कि

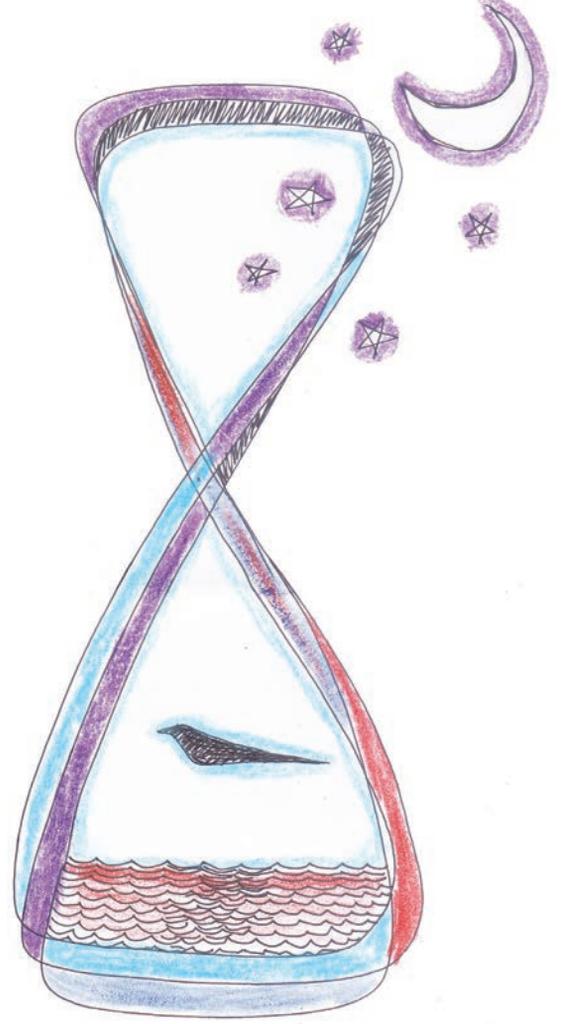


सबकी जानी हुई बात ऐसे दुहरा रहा हूँ  
 जैसे मैं पहली बार उसे दुनिया के सामने रख रहा हूँ  
 पर क्या उससे भी अजीब बात यह नहीं की  
 सबकी जानी हुई इस बात से भी हम अनजान बने रहते हैं  
 ऐसा क्यों होता है इन दिनों ज्यादातर मेरे साथ  
 कि बहुत उदास लगती हैं रातें  
 जबकि मुझे अच्छी तरह याद है  
 बचपन में तारों से भरा आकाश  
 कितना मनोरम और चमकदार लगता था  
 चाँद जो कल तक इतना प्यारा था  
 अचानक से क्यों इतना घुला और मन्द जान पड़ता है  
 मैं पूछना चाहता हूँ हुक्मरानों से कि  
 आखिर कैसे उसने बिना हमसे पूछे  
 उसका सौदा विदेशी नवाबों से कर दिया  
 सम्भव हो किसी दिन खुद आकर  
 कहे वह अपनी दास्तान  
 लेकिन क्या तब भी हम उसकी सुनेंगे  
 हम जो जीते हैं उनकी बनायी दुनिया में  
 और आस-पास देखकर भागते हैं उनसे दूर  
 नाक-भौं सिटकाते हुए  
 जबकि खाने-पीने से लेकर  
 हमारी सारी बुनियादी जरूरतें पूरी करने के लिए  
 वह खट रहा होता है  
 खेतों-खलिहानों-खदानों-कारखानों में  
 मैं कहीं भी जाता हूँ  
 तो मुझे सिसकियाँ सुनाई पड़ती हैं  
 अकेले रहा हूँ या भीड़ में  
 इससे कोई फर्क नहीं पड़ता  
 मैं टोहता हूँ उन सिसकियों को  
 जो धरती के भीतर से आती हैं  
 कभी-कभी तो झंकार की तरह बजती हुई  
 अजीब पर दिल दहला देने वाली सच्चाई यह कि  
 उन आवाजों में जो लरज है  
 वह अमूमन स्त्रियों की होती हैं  
 और चन्द सिरफिरे पुरुषों की  
 जो आ रही होती हैं  
 सदियों के मुहानों से निकलती हुई  
 वैसे देखा जाये तो इनमें  
 अजीब बात कुछ भी तो नहीं है  
 क्या यही सबसे अजीब बात नहीं है?



## बेदखली

यूँ तो मैं कुछ भी नहीं तेरे आगे  
पर मेरे होने से भी कुछ होता है  
अपने महलों, परकोटों और संस्थानों  
के दड़बे से बाहर निकलकर देखो  
कि तुम्हारे बिना भी मुमकिन है  
भरना इस बदरंग दुनिया में रंग  
बेमिजाज इन्सानों में आदमियत  
अभी गढ़ना बाकी है सम्पूर्ण इन्सान  
एक भरपूर खुशहाल संसार  
जिसमें सुख और दुःख बराबर  
हिस्से में आये सबके  
भला इसे तुमने कब माना है  
कोई काम का काम  
अब तो हमने भी मान लिया है  
तुम्हें किसी दूसरे ग्रह का प्राणी  
मुबारक तुम्हें तुम्हारी आलीशान कायनात  
पर हमें तो गुल काँटों में ही रहकर ही खिलाने हैं



**सम्पर्क**—असिस्टेंट प्रोफेसर, ड्रामा एवं थियेटर आर्ट  
संगीत भवन, विश्व भारती, शान्ति निकेतन-731235  
मो. 8170097507

# पूजा खिल्लन की कविताएँ



## बस इतना ही

उनमें और मुझमें फर्क बस इतना ही था कि  
 वे मेरी कोशिशों के हारने से पूर्व  
 मुझे हारा हुआ समझते थे  
 और मैं जीतने से पूर्व उनकी जीत के जश्न में, बिना  
 कहे ही शामिल हो जाया करती थी  
 उनके लिए मेरा दुख बाँटने की नहीं, अफसोस करने की चीज थी  
 और सान्त्वना बस एक शब्द  
 फिर भी, वे मुझे सिर्फ इसलिए बदलना चाहते थे  
 कि कठपुतलियों की मानिन्द लोगों को नचाने का उनका अभ्यास बना रहे,  
 जबकि मैं उन्हें अपनी कविता के सच के लिए बदलना चाहती थी।

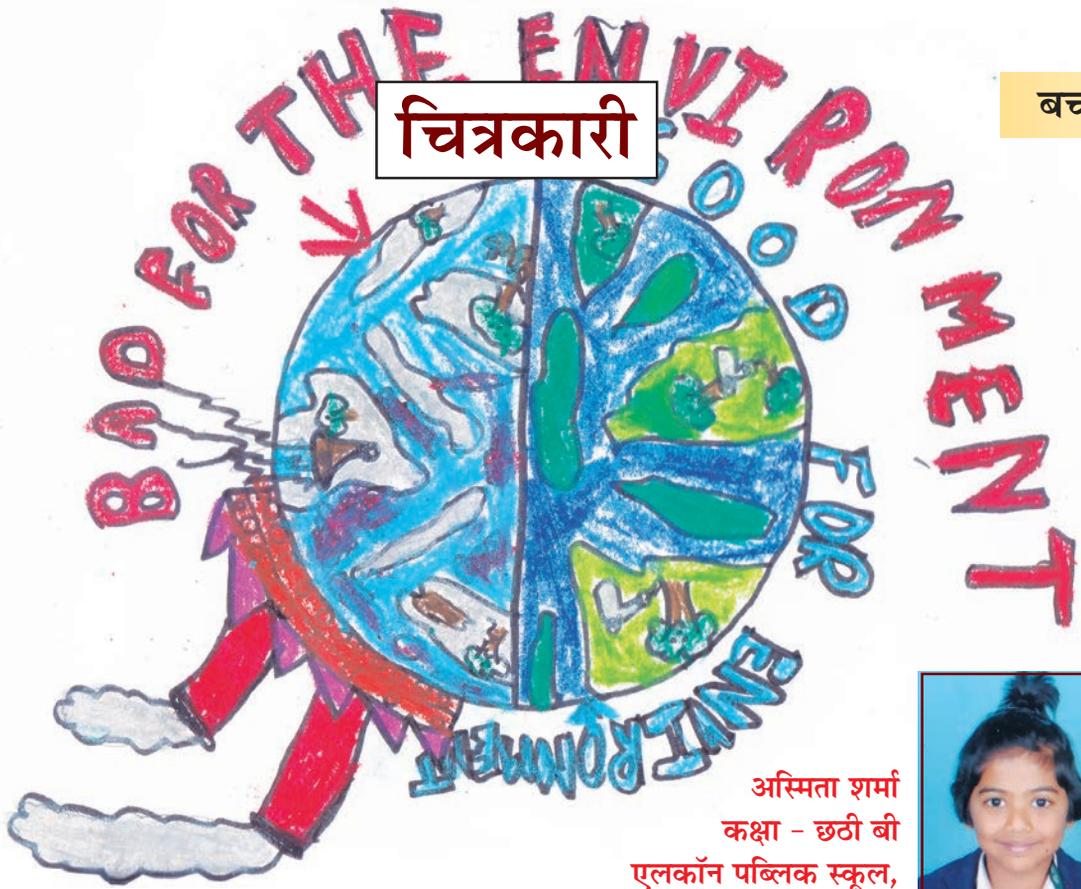


## शब्द में

नहीं, तुम वहाँ नहीं थे  
 जहाँ से लौट आती थी उल्टे पाँव, तुम्हारी खबर तक  
 बगैर तुम्हें साथ लिये  
 तुम तो मेरी कविता में थे  
 उसमें आये किसी सार्थक बिम्ब की तरह  
 और मैं बजाप्ता, छू रही होती थी तुम्हें, शब्द में।

सम्पर्क—स. प्रोफेसर, हिन्दी विभाग  
 जानकी देवी मेमोरियल कॉलेज,  
 दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली  
 मो. 9868430695

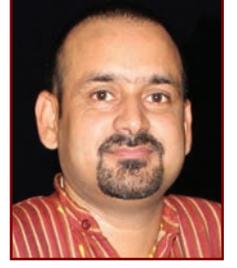
चित्रकारी



अस्मिता शर्मा  
कक्षा - छठी बी  
एलकॉन पब्लिक स्कूल,  
मयूर विहार दिल्ली



## कुंदन की वापसी



डॉ. सुनील कुमार 'सुमन'

बच्चों का खेलने में जरा-सा भी मन नहीं लग रहा था। कुंदन उनकी टोली का सबसे खास सदस्य था। वह पिछले एक हफ्ते से खेलने नहीं आ रहा था। आज भी जब वह नहीं आया तो बच्चे दुःखी होकर घास पर बैठ गए।

सम्यक ने कहा—

“मुझे नहीं लगता कि अब वह हमारे साथ कभी खेलने आएगा। पड़ोस की शालिनी आंटी बता रही थीं कि कुंदन के पापा का प्रमोशन हो गया है। वे बड़े ऑफिसर बन गए हैं। कुंदन भला अब यहाँ खेलने क्यों आएगा?”

“लेकिन इससे कुंदन का क्या लेना-देना?” असलम

ने पूछा।

इस पर कृति ने कहा—

“लेना-देना क्यों नहीं है! कुंदन के पापा ने एक कार खरीद ली है। कुंदन अब अच्छे-अच्छे कपड़े पहनता है। यहाँ खेलने से उसके कपड़े गंदे हो जाएँगे। भला वह क्यों आने लगा?”

ईशान बड़ी देर से घास नोंच रहा था। उसने अपनी चुप्पी तोड़ी और कहा—

“यह सब तो ठीक है, लेकिन घर के अंदर वह खेलता



किसके साथ है?”

आद्या ने ईशान की बात का जवाब दिया—

“कुंदन के लिए एक अच्छी-सी गेंद आ गई है। उसके पास कम्प्यूटर भी है। वह तरह-तरह के कम्प्यूटर गेम खेलता है...और हाँ, उसके पास कॉमिक्स की ढेर सारी किताबें भी हैं। इतना सब कुछ होते हुए उसे यहाँ आने की क्या जरूरत है?”

इस पर कृति ने कहा—

“लेकिन हमें कुंदन से मिलकर बात करनी चाहिए। क्यों न हम ही उसके घर चलें?”

“हाँ-हाँ, यह ठीक रहेगा।” कृति की बात पर सबने सहमति जताई।

अगले दिन मौका पाकर वे कुंदन के यहाँ जा धमके। उस समय वह घर में अकेला ही था। तिवारी काका बाहर फूलों को पानी दे रहे थे। अपने दोस्तों को देखकर कुंदन फूला न समाया।

लेकिन अगले ही पल वह उदासी-भरे स्वर में कहने लगा—“मैं रोज तुम सबके साथ खेलना चाहता हूँ। लेकिन मेरे मम्मी-पापा ने मुझे इसके लिए मना कर रखा है। उन्हें पार्टियों में जाने से फुर्सत नहीं है और मैं यहाँ अकेला पड़ा रहता हूँ। प्लीज, तुम सब मेरे लिए कुछ करो...!” यह कहते-कहते उसकी आँखें डबडबा गईं।

कुंदन की बातें सुनकर बच्चों का संदेह दूर हो गया। वे सभी अपना-अपना दिमाग टटोलकर उपाय सोचने लगे। ईशान के दिमाग में एक उपाय सूझा। जब उसने अपनी राय बताई तो सब खुश हो गए। फिर सबने मिलकर उस पर बातचीत की और कुंदन को समझाकर वापस लौट आए।

अगले दिन कुंदन ने देखा, उसके मम्मी-पापा जल्दी-जल्दी तैयार हो रहे थे। उसने पास जाकर मम्मी से पूछा—“मम्मी, आप दोनों कहाँ जा रहे हैं?”

“एक पार्टी में जा रहे हैं बेटे! तुम अपना ख्याल रखना और बाहर नहीं जाना। चुपचाप घर में ही खेलना... और हाँ, तिवारी काका को तंग नहीं करना।” मम्मी ने एक ही सांस में सब कह डाला।

कुंदन ने फिर पूछा— “क्या पार्टी में जाना जरूरी है?”

यह सुनकर उसके पापा ने जवाब दिया— “हाँ बेटे, एक

जरूरी पार्टी है। इसमें हमारे सारे दोस्त आ रहे हैं। हमें सबके साथ मिलना-जुलना है, बातें करनी हैं इसलिए हम जा रहे हैं।”

कुंदन ने पूछना जारी रखा—“पापा, क्या आप दोनों यहाँ घर में ही पार्टी नहीं कर सकते? बाहर जाने की क्या जरूरत है?”

यह सुनकर उसके पापा को बड़ी हैरानी हुई। उन्होंने कुंदन को पुचकारते हुए कहा—“अरे, यह तू कैसी बात कर रहा है बेटे? तुम्हारी तबीयत तो ठीक है? भला हम घर में अकेले पार्टी कैसे कर सकते हैं? इसके लिए हमारे सभी दोस्तों का होना जरूरी है, इसलिए तो हम वहाँ जा रहे हैं।”

अब मौका पाते ही कुंदन ने अपनी बात कह डाली—“पापा, जब आप दोनों घर में अकेले पार्टी नहीं कर सकते तो मैं भला यहाँ अकेला कैसे खेल सकता हूँ? मेरे भी तो दोस्त हैं, जिनसे मैं मिलना चाहता हूँ। उनके साथ खेलना चाहता हूँ और खूब सारी बातें करना चाहता हूँ। लेकिन आप दोनों तो मुझे बाहर निकलने ही नहीं देते। मैं घर में बंद होकर नहीं रहना चाहता पापा!...”

इतना कहते-कहते कुंदन का गला भर आया और वह सिसकने लगा। उसके मम्मी-पापा को अपनी गलती का एहसास हुआ। उन्हें घोर पछतावा भी हुआ।

उसकी मम्मी पास आई और कुंदन के सिर पर हाथ फेरती हुई बोलीं—“सारी बेटा! हमसे बड़ी भूल हो गई। आज से तुम रोज अपने दोस्तों के साथ खेलोगे। हम तुम्हें अपने दोस्तों से मिलने से अब कभी नहीं रोकेंगे।”

मम्मी ने कुंदन के आँसू पोंछे और प्यार से उसका माथा चूम लिया।

तभी तिवारी काका ने आकर कहा—“कुंदन बबुआ, आपके दोस्त लोग बाहर खड़े आपका इंतजार कर रहे हैं।”

इतना सुनते ही कुंदन बाहर की ओर दौड़ पड़ा। बच्चे आज दुगुने उत्साह के साथ खेल रहे थे, कुंदन जो उनके साथ था।

सम्पर्क—असिस्टेंट प्रोफेसर  
साहित्य विद्यापीठ महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय  
वर्धा (महाराष्ट्र) 442005  
मोबाइल 9552733202

## मलयालम में गांधी

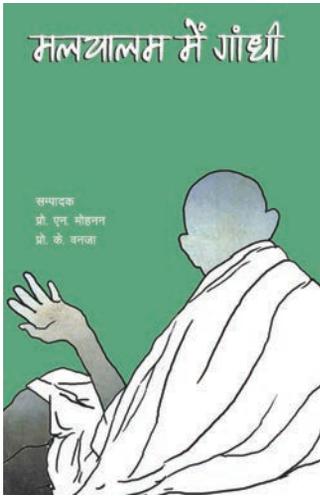


प्रतिभा कुशवाहा

अक्सर यह होता है कि जब हम किसी गोष्ठी-संगोष्ठी, सभा-सम्मेलन में जाते हैं, वहाँ जो विचार मन्थन चलता है तो एकबारगी लगता है कि जो कहा और सुना जा रहा है वह सब हमारे दिमाग में नोट हो जाये। इस प्रकार कही गयी बातें भविष्य में काफी काम आती हैं। शायद इसी तथ्य को जानते-समझते हुए 'मलयालम में गांधी' को पुस्तकाकार किया गया है। पुस्तक के सम्पादकीय में सम्पादक प्रो. एन. मोहनन ने बताया है कि मैं और मेरी सहयोगी डॉ. के. वनजा के नेतृत्व में हमने गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति के सभागार में मलयालम में गांधी विषय पर संगोष्ठी आयोजित की। उसमें प्रस्तुत लेखों, कविताओं तथा अन्य टिप्पणियों को संशोधित करके हम यह संग्रह प्रकाशित कर रहे हैं। इस संग्रह में संगोष्ठी में पढ़े गये सभी लेखों को प्रस्तुत किया गया है।

किताब में इस बात का नोटिस लिया गया है कि स्वतन्त्रता तक पहुँचते-पहुँचते महात्मा गांधी का स्थान जिस तरह से राजनीति में कम होता गया वैसे ही साहित्य में भी कम हो गया। लेकिन गांधीजी की हत्या के बाद मलयालम साहित्य में गांधीजी के प्रति हुए अन्याय पर पछताने वाले भाव दिखाई दिये। मलयालम में गांधीजी पर कविता लिखने वाले बहुत से साहित्यकार हैं जिन्होंने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों से प्रभावित होकर कविताएँ लिखीं। गांधीजी का व्यापक व्यक्तित्व उनको लिखने के लिए प्रेरित और उत्साहित करता रहा। गिरीश कुमार के.के. अपने लेख में बताते हैं कि 18 अगस्त, 1920 को गांधीजी पहली बार केरल आये थे। तब उनके स्वागत के लिए बहुत सारी कविताएँ लिखी गयीं थीं। ये मलयालम की प्रारम्भिक गांधीवादी कविताएँ हैं। इनमें गांधी-दर्शन की गरिमा का चित्रण किया गया है लेकिन समकालीन मलयालम कविता गांधीवाद की तारीफ न होकर गांधीजी की उपेक्षा और गांधी चिन्तन में आये अपचय का बखान है। वह युगानुसार परिवर्तन की माँग को लेकर गांधी चिन्तन की समीक्षा करती है।

मलयालम में गांधीजी पर प्रथम बार कविता लिखने का श्रेय नटुवतु महन को जाता है। गांधीजी को पहली बार 'नव ताता' कहकर सम्बोधित करने वाली वी. सी. बालकृष्ण पणिकर, पंडित के.पी. करुप्पन आदि के नाम भी स्मरणीय हैं। डॉ. दीपक के.आर. अपने लेख में लिखते हैं कि वेण्णिकुलं गोपालकुरुप की कविता 'आरम्मे गांधी' (माँ, कौन है गांधी) में गांधीजी के व्यक्तित्व की आन्तरिक दृढ़ता का वर्णन है। आजादी की लड़ाई



प्रकाशक - गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति, नई दिल्ली  
मूल्य-80

को नाकाम करने के लिए अँग्रेजी सरकार ने कई बार गांधीजी को जेल में बन्द किया था। किन्तु वे शायद नहीं जानते थे कि बन्धनग्रस्त गांधी ही ज्यादा ताकतवर थे, क्योंकि उनका असली हथियार तो मन की दृढ़ता थी। गांधीजी के दलित-प्रेम का व्यावहारिक रूप पाला नारायण नायर की कविता 'युगप्रवाचकन' में देखा जा सकता है इस कविता में वैक्यम सत्याग्रह में गांधीजी की भूमिका को रेखांकित किया गया है। छुआछूत के खिलाफ केरल में सम्पन्न हुआ एक आन्दोलन था 1924-25 में वैक्यम सत्याग्रह। वैक्यम स्थित मन्दिर के चारों तरफ जो रास्ता था उन पर चलने का अधिकार दलितों को नहीं था। गांधी के आगमन से जो उत्साह इस आन्दोलन को मिला उसी की प्रतिफल थी यह कविता।

गांधीजी के व्यक्तित्व की विशेषताओं का वर्णन बहुत सारी कविताओं में किया गया है। हरीन्द्रनाथ कुरूप की 'कर्मचन्द्रन', तकशी शंकरनारायण पिल्लै की 'तुडिक्कुन्न तालुकल' (स्पन्दित पन्ने), कृष्णन पारपिल्ली की 'महात्मा जी' वल्लत्तोल की 'एँटे गुरुनाथन' (मेरे गुरुनाथ) आदि कविताएँ महत्वपूर्ण हैं। इसी तरह कल्पट्टा नारायण की कविता 'गांधीमार्ग' में गांधी का मार्ग सरल अवश्य दिखता है पर उसे अपनाना, उसका अनुसरण करना दुस्साध्य है।

वल्लत्तोल की कविताओं में गांधी शीर्षक लेख में कृष्णप्रिया टी.पी. लिखती हैं कि वल्लत्तोल नारायण मेनन की कविताएँ गांधी चिन्तन के प्रभाव की स्पष्ट प्रमाण हैं। उन्होंने जब लेखनी चलानी शुरू की तब भारत गुलाम था। इसलिए उनकी कविताओं में स्वतन्त्रता की चाह, राष्ट्र प्रेम आदि की गूँज है। छात्रा अंजु के.आर. मलयालम के प्रसिद्ध कवि मधुसूदन नायर की कविता 'गांधी' के विषय में विस्तार से बताती हैं। 'गांधी' कविता स्वतन्त्रता के बाद के भारत में गांधी के आदर्शों के प्रति हो रहे उपेक्षा भाव को व्यक्त करने के साथ-साथ भारत के भविष्य के प्रति कवि की चिन्ता को भी संकेतित करती है।

शिल्पा पी.बी. वैक्यम मोहम्मद बशीर के गद्य साहित्य के विषय में बताती हैं। मोहम्मद बशीर स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने के साथ-साथ गांधी और उनकी विचारधारा से भी वे प्रभावित हुए। जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं में मिलता है। लेखिका बताती हैं कि बशीर के उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उनके उपन्यास सार्वभौमिक एकता व जैव-अजैव जीवों के लिए बनी दुनिया की संकल्पना ही हैं। गांधीजी की अहिंसा का भी यही ध्येय रहा है। यही विचार

'भूमियुटे अवकाशिकल' (धरती की दावेदार) में पूर्ण रूप से छलकती है। मोहम्मद बशीर अपने लेखन के माध्यम से कहते हैं कि बन्दूक पाप का प्रतिरूप है। मनुष्य की सबसे बड़ी गलती है—बन्दूक का आविष्कार। पाप की सन्तान है बन्दूक। गोली चलाने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। विश्व प्रेम का भाव बशीर के उपन्यासों में दिखता है।

इसी किताब में विष्णु तंकप्पन 'पी. केशव देव के उपन्यास 'नाले से' में गांधी' में बहुत ही महत्वपूर्ण बात कहते हैं। उनका मानना है कि मार्क्सवादी विचारों से गहरे प्रभावित मलयालम साहित्य में अन्य विचार-धाराओं को ले आना अत्यन्त साहसपूर्ण कार्य है। लेकिन केरलवासियों पर गांधीजी का प्रभाव इतना गहरा है कि वे इस विचारधारा से कभी दूर नहीं रह सकते। कट्टर मार्क्सवादी लेखक होने पर भी पी. केशव देव ने अपनी रचनाओं में गांधीवाद को अपने पात्रों के जरिए दिखाया और समझाया है। कविताओं और कथा-साहित्य के साथ नाटकों के जरिए भी गांधी विचारधारा को सामने लाने का प्रयास मलयालम में किया गया। सिविक चन्द्रन की रचनाओं में गांधी अपना मूर्त रूप धारण करके हमारे सामने प्रस्तुत नहीं होते। पर बावजूद इसके अपनी विचारधारा के साथ गांधी वहाँ उपस्थित रहते हैं। इस पुस्तक की सम्पादिका भी एक तथ्य लिखती हैं कि केरल में के.पी.ए.सी. जैसा नाटक संघ प्रगतिवादी नाटकों के प्रचार-प्रसार में बड़े पैमाने पर कार्य करता आ रहा है। लेकिन गांधी के विचारों से सम्पन्न नाटकों का मंचन नहीं के बराबर है। जैसे हम गांधी को भूल गये वैसे मलयालम के रंगकर्मी भी। लेखिका का चिन्ता वाजिब लगती है।

पुस्तक 'मलयालम में गांधी' के माध्यम से इस बात को खाका खींचा गया है कि पाठक बहुत डिटेल् में ना सभी पर मोटे तौर पर इस बात को नोट कर सकते हैं कि मलयालम का साहित्य गांधीवाद से प्रभावित रहा है। यह दूसरी बात है कि खुद महात्मा गांधी गांधीवाद जैसी किसी विचारधारा होने के पक्षकार नहीं थे। इस साहित्य की कुल जमा पूँजी यह है कि गांधी के विचार हम आने वाली पीढ़ियों तक संचालित कर सकते हैं वैसे भी किसी रचना का यही उद्देश्य होता है। पुस्तक से यह जानकारी नहीं मिलती है कि जिन रचनाओं और उनके रचनाकारों की यहाँ चर्चा की जा रही है उनका साहित्य अनुवाद के माध्यम से हिन्दी या अहिन्दी भाषा में अब तक उपलब्ध हो सका है कि नहीं। अगर है तो यह भी एक सुखद बात होगी।

सम्पर्क—मो. 9891191549

## विलायत में मोहनदास



पंकज चौबे

### संयोग से बना कार्यक्रम

गांधीजी के जीवन का दूसरा पड़ाव है इंग्लैण्ड की राजधानी लन्दन, जहाँ बापू ने बैरिस्टरी की पढ़ाई की। इनका लन्दन जाना महज एक संयोग था। घर की माली हालत अच्छी न थी। पिताजी का देहावसान हो गया था। घर का सारा बोझ बड़े भाई के कन्धों पर था। वह मोहनदास को बहुत प्यार करते थे। उन्हें अच्छी शिक्षा देना चाहते थे ताकि आगे चलकर परिवार की जिम्मेदारी उठा सकें। मोहनदास ने 1887 ई. में मैट्रिक की परीक्षा पास की। आगे की शिक्षा के लिए भावनगर स्थित श्यामलदास कॉलेज में दाखिला दिलाया गया। इस समय भावनगर व्यापार का केन्द्र था। जहाँ शिक्षा की अच्छी व्यवस्था थी। यह कॉलेज अपने अध्यापन और शिक्षकों की श्रेष्ठता के लिए जाना जाता था लेकिन मोहनदास के लिए यहाँ की पढ़ाई कठिन मालूम पड़ती थी। यहाँ असफल हो जाने की बेचैनी उनके मन में थी।

एक दिन मोहनदास की माता और बड़े भाई बैठे थे। तभी मोहनदास के पिता के पुराने मित्र मावाजी दवे का आना हुआ। मोहनदास उन दिनों छुट्टियों में घर पर ही थे। मावाजी दवे को मालूम हुआ कि मोहनदास श्यामलदास कॉलेज में पढ़ाई कर रहे हैं। दवे जी ने भाई और माताजी को समझाया कि मोहनदास को आगे की पढ़ाई के लिए विलायत भेजना ठीक होगा। यहाँ की पढ़ाई से 50-60 रुपये की नौकरी मिलना भी मुश्किल होगा और यहाँ पढ़ाई पूरी करने में 4-5 वर्ष का समय लगेगा। विलायत में बैरिस्टरी की शिक्षा तीन वर्ष में पूरी हो जाती है। मावाजी दवे के लड़के केवलराम का भी मानना था कि वहाँ की पढ़ाई यहाँ से सरल है। तीन साल में बैरिस्टर बना जा सकता है। मोहनदास की रुचि डॉक्टर बनने में थी। पर वैष्णव परिवार में जन्म लेने के कारण मोहनदास को चीड़-फाड़ के इस व्यवसाय में जाने की इजाजत नहीं मिली। आखिरकार मोहनदास का विलायत जाना निश्चित हुआ।

मोहनदास के सगे-सम्बन्धियों में तुरन्त यह बात फैल गयी कि वे विलायत जा रहे हैं। जाति की पंचायत हुई। पंचायत ने विलायत-यात्रा के लिए समुद्र पार करने को धार्मिक परम्परा के प्रतिकूल बताया। जाने से मना किया। लेकिन मोहनदास

विलायत जाना तय कर चुके थे। वह अडिग रहे। दूसरी बड़ी समस्या थी जून-जुलाई का महीना। इस महीने में हिन्द महासागर में तूफान आने की आशंका होती है। खैर मोहनदास ने इंतजार किया।

### साउथम्पटन का साक्षात्कार

जहाज की लम्बी यात्रा के बाद साउथम्पटन बन्दरगाह पहुँचे। यह शहर इंग्लैण्ड के दक्षिण तट पर स्थित है पसायर का सबसे बड़ा शहर है। यह दक्षिण-पश्चिम लन्दन से 121 किमी. की दूरी पर है। यहाँ से कहाँ जाकर रुकना है उन्हें पता नहीं था। मोहनदास ने साउथम्पटन से डॉ. प्राणजीवन मेहता को एक तार भेजा। डॉ. मेहता उनसे विक्टोरिया होटल में मिले। डॉ. मेहता ने मोहनदास को विलायती संस्कृति और आहार-व्यवहार के बारे में जरूरी बातें बतलायीं। विलायत में 'सर' शब्द का इस्तेमाल नौकर अपने मालिक के लिए करता है। जबकि भारत में हम अंग्रेजों के लिए करते हैं। विलायत में रीति-रिवाजों की शिक्षा का आरम्भ यहीं से हुआ।

संकोची स्वभाव के कारण मोहनदास को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मित्र के परिवार में बने भोजन से इनका पेट नहीं भर पाता था। मोहनदास की आदत डटकर खाने की थी। घर में बिना नमक और मसालों वाली साग-सब्जी बनती थी। लोग रोटी का थोड़ा टुकड़ा ही लेते थे। जिससे और माँगने में संकोच होता था। पूरे दिन भूखा ही रहना पड़ता था। यहाँ के खाने की संस्कृति में मांसाहार और शराब मुख्य था। इसके बगैर काम नहीं चल सकता था। मोहनदास दिन में शाकाहारी रेस्टोरेंट की खोज करते ताकि पेट भर भोजन किया जा सके। मोहनदास की परेशानी देखकर कई मित्रों ने उन्हें मांसाहार अपनाने का सुझाव दिया, पर मोहनदास को माँ को दिया हुआ वचन याद रहता और उसका दृढ़ता से पालन करते।

### शाकाहार का निश्चय

एक दिन मोहनदास घूमते-घूमते फेरिंग्डन स्ट्रीट पहुँचे। वहाँ उन्हें 'वेजेटेरियन रेस्टारं' मिला। यही से उन्होंने सॉल्ट की पुस्तक 'अन्नाहार की हिमायत' खरीदी। इस पुस्तक को पढ़ने

के बाद अन्नाहार के प्रति उनके मन में विश्वास बढ़ गया। माँ को दिया गया वचन स्वेच्छा से आनन्द देने लगा। मांसाहार मनुष्य के लिए नहीं है। यह मोहनदास ने आत्मसात कर लिया था। अन्नाहार के साथ कई प्रयोग भी किये। उसमें उसकी दृढ़ता बढ़ती ही जाती है। मोहनदास के लिए अन्नाहार का यह सफर लन्दन से शुरू हुआ जो उनके स्वर्गवास तक रहा। प्रकृति और उसमें शामिल जीव-जन्तुओं को उपभोग की वस्तु नहीं उपयोग की वस्तु माना। इस समय मोहनदास जिस बस्ती में रहते थे उसका नाम था बेजवॉटर। यहाँ मोहनदास ने अन्नाहार मण्डली की स्थापना की। जिसमें सर ऑर्नल्ड उपसभापति डॉ. ओल्डफील्ड सभापति और मोहनदास मन्त्री बने।

कई विलायती लोगों से मिलने-जुलने के बावजूद मोहनदास के स्वभाव का संकोच अब तक खत्म नहीं हुआ था। चार-पाँच लोगों की मण्डली जमा होती उसमें भी वे मौन धारण किए रहते। अन्नाहारी मण्डल के सभापति डॉ. ओल्डफील्ड ने एक बार मोहनदास को 'नर-मक्खी' की उपमा दी। उनका यह व्यंग्य मोहनदास के संकोची स्वभाव को लेकर था।

मोहनदास के व्यक्तित्व में एक आयाम और निखरा वह था—किफायती बनना। विलायत पहुँचते ही उनके मन में सभ्य बनने की सनक सवार हुई। जिसके लिए उन्होंने कई तरह के उद्यम किए। अच्छे कपड़े सिलवाने देर तक बालों को संवारने में समय और पैसा दोनों लगता था। यह एक स्वभाविक वृत्ति है। मोहनदास के मन में वायलिन सीखने, नृत्य सीखने का विचार आया। इसके लिए उन्होंने प्रशिक्षक भी खोजे और पैसे भी खर्च किये। भाषण देने की कला के लिए बेल की पुस्तक 'स्टैण्डर्ड एलोक्युशनिस्ट' खरीदी। बेल साहब को भाषण-कला सिखलाने के लिए एक गिन्नी भेंट की परन्तु बेल साहब ने मोहनदास को समझाया कि 'विद्यार्थियों को विद्याधन बढ़ाने पर ध्यान देना चाहिए।' इसका उनके मन पर प्रभाव पड़ा। मोहनदास अब विद्यार्थी बने। सादगी उनके जीवन में यहीं से शामिल हुई। खाने-पीने, मकान भाड़ा, गाड़ी भाड़े पर हुए खर्च का हिसाब जाँचना शुरू किया। दो कमरे का घर छोड़कर एक कमरे का घर लिया। काम के हिसाब से अलग-अलग मुहल्ले में रहने लगे। जिससे गाड़ी भाड़ा बचाया जा सके।

विलायत में रहने के दौरान मोहनदास की मुलाकात प्रसिद्ध लेखक नारायण हेमचन्द्र से हुई। नारायण हेमचन्द्र की सादगी ग्रहण करने योग्य थी। उनमें अभिमान जरा सा भी नहीं था। उनके व्यक्तित्व और नया सीखने की प्रवृत्ति ने मोहनदास के जीवन

पर असर डाला। नारायण हेमचन्द्र निरन्तर सीखते रहे।

## पेरिस की यात्रा

पेरिस की यात्रा मोहनदास लन्दन से पेरिस एक प्रदर्शनी देखने 1890 ई. में गए। फ्रांस की राजधानी देखने की उनके मन में तीव्र इच्छा थी। एफिल टावर देखने का आकर्षण उनके मन में पहले से ही था। पेरिस शहर भोगविलास, फैशन के लिए जाना जाता था। गोकि यह कलाकारों एवं लेखकों के जमावड़े के लिए भी प्रसिद्ध था। एफिल टावर के बारे में निन्दा भी होती थी। टॉल्स्टॉय ने इसके बारे में कहा था—एफिल टावर मनुष्य की मूर्खता का चिह्न है उसके ज्ञान का परिणाम नहीं।

यहाँ बैरिस्टर बनना कोई मुश्किल बात न थी। परीक्षा की पद्धति आसान थी और बाजार में ऐसी कुंजी पुस्तकें भी उपलब्ध थीं जिसे पढ़कर 15 दिनों में परीक्षा पास किया जा सकता था।



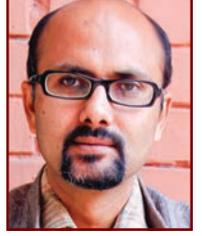
पोट्सडामाउथ में 6 मई 1891 को आयोजित वेजिटेरियन फेडरल यूनियन के सम्मेलन में गांधी

पर मोहनदास को ऐसा करके पास करना बेइमानी लगी। मोहनदास ने सारी मूल पुस्तकें खरीदीं और पढ़ीं और उन्होंने सारी परीक्षाएँ पास कर लीं। उन्होंने महसूस किया कि बैरिस्टर कहलाना आसान है पर बैरिस्टरी करना मुश्किल काम है। शिक्षा की यह पद्धति सिद्धान्त आधारित थी। व्यवहार परक नहीं।

परीक्षाएँ पास करके मोहनदास 10 जून 1891 ई. में बैरिस्टर कहलाए। 11 जून को टाई शिलिंग फीस भरकर इंग्लैण्ड हाई कोर्ट में अपना नाम दर्ज कराया और 12 जून को घर के लिए रवाना हो गये।

सम्पर्क—मो. 9968875235

## अधूरे भाषण की याद में-VII



डॉ. राजीव रंजन गिरि

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के भाषण में गांधीजी ने स्पष्ट किया था कि अगर उन्हें यह समझ में आ जाए कि अंग्रेजों के रहते देश का उद्धार कतई नहीं होगा तो उनसे भारत से चले जाने हेतु प्रार्थना करने में बिल्कुल आगा-पीछा नहीं करूँगा। ऐसा ही किया भी। इसे समझते ही पूरी प्रतिबद्धता के साथ अंग्रेजी सत्ता को यह अहसास कराने में जुट गए कि उन्हें भारत से सात समुद्र पार चले जाना चाहिए। अपनी इस दृढ़ धारणा के समर्थन में मरने को तत्पर रहने की बात उन्होंने की थी। इस तरह के मरण को श्रेष्ठ बताया था। इस पर भी वे बिल्कुल सच्चे साबित हुए। उनके जीवन ने इस धारणा को पुष्ट किया। इसी ने आचार्य कृपलानी सरीखे अनेक लोगों के अन्तःकरण में गांधी की अगुवाई स्वीकारने को भाव जगाया।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के दौरान जो माहौल बना था, उससे गांधीजी का मन उद्विग्न था। इसका कारण था, स्थान-स्थान पर लगाई गई खुफिया पुलिस। आयोजन में वाइसरॉय शामिल हुए थे। उनकी सुरक्षा के मद्देनजर यह तैनाती हुई थी। गांधी के मुताबिक इसका कारण था—अविश्वास। भारतीय लोगों के प्रति शासकों में अविश्वास। अगर शासक और शासितों में विश्वास होता तो सुरक्षा के इन्तजाम नहीं होते। जगह-जगह खुफिया पुलिस नहीं लगाए जाते। गांधी इस अविश्वास का कारण पूछते हैं। इसकी वजहों पर विचार करते हैं। एक-दूसरे के प्रति अविश्वास और परिणामस्वरूप सुरक्षा के लिए खुफिया पुलिस की तैनाती गांधी के हिसाब से मरणान्तक दुःख है। वे कहते हैं कि “इस प्रकार मरणान्तक दुःख भोगते हुए जीने की अपेक्षा क्या लार्ड हार्डिंग के लिए सचमुच ही मर जाना अधिक श्रेयस्कर नहीं है। परन्तु एक बलशाली सम्राट के प्रतिनिधि इस प्रकार मर भी नहीं सकते। मृतक की भाँति जीना ही वे शायद जरूरी समझते हों।” विद्यार्थियों की सार्वजनिक सभा को सम्बोधित करते हुए गांधी यह

कह रहे थे। वे ही ऐसा कह सकते थे; सबकी मौजूदगी में। कारण कि उनका मन साफ था। पारे की तरह। सुरक्षा के ऐसे पुख्ता इन्तजाम के साथ जीना मृतक की तरह जीना है। फिर ऐसे जीवन का क्या मतलब? इस जीवन से श्रेयस्कर है सचमुच मर जाना।

वे यह भी पूछते हैं कि खुफिया पुलिस का जुआ हमारे सिर पर लादने का क्या कारण है? जवाब में इसके लिए अराजक दल को जिम्मेदार मानते हैं। गांधी खुद को अराजक ही कहते हैं, “मैं खुद भी अराजक ही हूँ, पर दूसरे वर्ग का।” इन दोनों अराजक वर्ग की विभाजक रेखा है—हिंसा। गांधी अराजक थे, अहिंसक अराजक। वे हिंसक अराजक दल की उत्पत्ति का कारण मानते हैं— उतावलेपन का नशा। वे इस समूह को स्पष्टतया कहते हैं कि “यदि भारत को अपने विजेताओं पर विजय प्राप्त करनी हो तो आपकी अराजकता के लिए यहाँ जगह नहीं है।” कारण कि हिंसा कायरता का लक्षण है। हिंसा की पैदाइश की सबसे बड़ी वजह कायरता है। ईश्वर के प्रति अटूट आस्था वाले गांधी हिंसा में भरोसा रखने वाले लोगों को कहते हैं कि “यदि आपका ईश्वर पर विश्वास हो और यदि आप उसका भय मानते हों तो फिर आपको किसी से डरने का कोई कारण नहीं है; फिर चाहे वे राजा-महाराजा हो, वाइसरॉय हों, खुफिया पुलिस हों अथवा स्वयं सम्राट हों।” गांधी के मन में हिंसक अराजकतावादियों के प्रति आदर-भाव था। गहरा सम्मान। उन्होंने कहा है कि “अराजकों के स्वदेश-प्रेम का मैं बड़ा आदर करता हूँ। वे जो स्वदेश के लिए आनन्दपूर्वक मरने के लिए प्रस्तुत रहते हैं, उनकी मैं इज्जत करता हूँ।” गांधी हिंसक अराजकतावादियों के स्वदेश-प्रेम का सम्मान करते थे। वतन के लिए खुशी-खुशी मरने वाले जज्बे की भी इज्जत करते थे। फिर भी उनके मार्ग से घोर असहमति रखते थे।

(जारी)

सम्पर्क—rajiv.giri19@gmail.com

## **‘अंतिम जन’ के प्रसार में सहायक बनें**

हमें तलाश है ऐसे साथियों/वितरकों/दुकानदारों की, जो ‘अंतिम जन’ के प्रसार में सहायक बनें। ऐसे साथी/वितरक/दुकानदार, जो अंतिम जन का पाठक बनाएंगे तथा पत्रिका बेचेंगे, उन्हें गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति उचित कमीशन देगी।

इच्छुक व्यक्ति/संस्थान पत्रिका तथा सदस्यता प्रोफार्मा भेजवाने के लिए संपर्क करें :

**प्रधान संपादक**

**‘अंतिम जन’ मासिक पत्रिका**

**गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति**

गांधी दर्शन, राजघाट, नई दिल्ली-110002

दूरभाष : 011-23392709, 23302710 फ़ैक्स : 011-23302706

ई-मेल : [antimjangsds@gmail.com](mailto:antimjangsds@gmail.com), [2010gsds@gmail.com](mailto:2010gsds@gmail.com)

## ‘अंतिम जन’ की सदस्यता लें

इच्छुक व्यक्ति/संस्थान कृपया नीचे दिये गये प्रोफॉर्मा को भरकर (शुल्क) राशि (चेक/ड्राफ्ट) सहित निम्नलिखित पते पर भेजें :

**प्रधान संपादक**

**‘अंतिम जन’ मासिक पत्रिका  
गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति**

गांधी दर्शन, राजघाट, नई दिल्ली-110002

आप हमसे संपर्क कर सकते हैं :-

दूरभाष : 011-23392709, 23302710 फैक्स : 011-23302706

ई-मेल : antimjangsds@gmail.com, 2010gsds@gmail.com

## ‘अंतिम जन’ मासिक पत्रिका (सदस्यता प्रपत्र)

मैं गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति द्वारा प्रकाशित अंतिम जन मासिक पत्रिका (हिन्दी), का/की पाठक-सदस्य ..... वर्ष / वर्षों के लिए बनना चाहता / चाहती हूँ।

	वर्ष	रुपये
[ ]	एक प्रति शुल्क	10/-
[ ]	सालाना	100/-
[ ]	दो साल	200/-
[ ]	पाँच साल	400/-

..... बैंक चेक संख्या / डिमान्ड ड्राफ्ट संख्या ..... दिनांक .....

राशि ..... Director, Gandhi Smriti & Darshan Samiti, New Delhi में देय, संलग्न है।

सदस्य का नाम (स्पष्ट अक्षरों में) : .....

व्यवसाय : .....

संस्थान : .....

पता : .....

पिन कोड : .....

राज्य : .....

दूरभाष (कार्यालय) ..... निवास ..... मोबाइल .....

ई मेल : .....

हस्ताक्षर .....

**नोट :-** सभी भुगतान चेक (स्थानीय)/डिमान्ड ड्राफ्ट द्वारा Director, Gandhi Smriti & Darshan Samiti, New Delhi के नाम से, नई दिल्ली में, देय होने चाहिये।